कामायनी : एकपरिचय

लेखक

श्री गंगाप्रसाद पाण्डेय एम० ए०

प्रकाशक

रामनारायण लाल

पब्लिशर और बुकसेलर

इलाहाबाद

द्वितीय संस्करण] १९४९ [मूल्य दो रुपया

Printed by
RAMZAN ALI SHAH at the National Press
Allahabad

1st Edition 1942, 2nd Edition 1946

2 m.

निर्देश

विज्ञप्ति

जलप्लावन की कथा और उसमें बचे हुए आदि पुरुष की अनुश्रुति हमारे ही नहीं अन्य देशों के पुरातन साहित्य में भी मिलती है। हमारे मन्वन्तर के प्रवर्तक मनु का नाम भी ग्रीक के माइनोस या मिश्र के म्न्यूसियस से विचित्र साम्य रखता है। यहूदी, ईसाई और इस्लामी संस्कृतियों ने आदम के नाम से जिस आदि पुरुष का परिचय दिया है वही मनु है, ऐसी धारणा भी स्वाभाविक रही है। इन सबसे चाहे और कोई निष्कर्ष न निकले परन्तु इस नाम की प्रख्यात महत्ता तो प्रमाणित हो ही जाती है।

हमारे यहाँ भी मन्वन्तर के प्रवर्तक मनु और मानव-धर्म-शास्त्र के प्रणेता मनु के एक या भिन्न अस्तित्व के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद है। परन्तु वेद में मनु की स्थिति की परीक्षा के उपरान्त यह मान लेने के लिए बहुत अवकाश रह जाता है कि मनुस्मृति के प्रणेता और मन्वन्तर के प्रवर्तक भिन्न हो सकते हैं।

'मनुमन्ये प्रजापतिम्' के अनुसार मनु शब्द ईश्वर के लिए भी प्रयुक्त होता रहा है।

वेद-मन्त्रों में कहीं कहीं मनु और पिता दोनों शब्द मिलते हैं—

यानि मनुरवृणीता पिता नस्ताः शं च योश्च रुद्रस्य वश्मि।

ऋ० २—३३—१३

(जिनको (औषधियों को) हमारा पिता मनु (मननशील) सब से उत्तम जान कर ग्रहण करता है वे हमारे लिए शान्तिकर और रुद्र रोग को दूर करने वाली हों। उन्हीं को मैं प्राप्त करना चाहूँ।)

यच्छं च योश्च मनुरायेजे पिता तदश्याम तव रुद्र प्रणीतिषु।

ऋ० १—११४—२

(मनु पिता हमें जो कुछ भी शान्तिदायक और दुखों का नाशक साधन प्रदान करता है हम उसका उपयोग करें। हे रुद्र! हम तेरी नीतियों में चलें।)

यह भी अनुमान है कि वेद में बार बार आने वाला मनु शब्द व्यक्ति विशेष की ओर संकेत न करके मननशीलता को व्यक्त करता है। यह धारणा नितान्त निर्मूल नहीं, क्योंकि सभी व्यक्तिवाचक संज्ञायें पहले अपने यौगिक अर्थ में ही प्रयुक्त होती रहती हैं। इस प्रकार 'मनुते जानातीति मनु ज्ञानवान यजमान' के अनुसार मनु का अर्थ ज्ञानी लेना कुछ अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता, परन्तु इस क्रम से अतीत की धुंधली परिधि में खड़े अनेक व्यक्तियों के नाम यौगिक हो जाने की सम्भावना है। 'प्रथमामायेजे मनु' से प्रथम यज्ञ करने वाले व्यक्ति-विशेष का अर्थ भी लिया जा सकता है और विचारवान ज्ञानवान का भी। ऐसी स्थिति में केवल यौगिक अर्थ पर दृष्टि को केन्द्रित रखना उचित न होगा।

इसके अतिरिक्त मनु कुछ वेद-मन्त्रों के ऋषि भी हैं,

> मनुर्वैवस्वत ऋषिः। विश्वेदेवा देवताः।
> आ पशुं गाथि पृथिवीं वनस्पतीनुषासा नक्तमोषधीः।
> विश्वे च नो वसवो विश्ववेदसो धीनां भूत प्राविताः॥
> ऋ० ८—२७—२

(हे विद्वान! तू पशु, भूमि, वनस्पति, औषधि को दिन रात प्रातः सायं प्राप्त किया कर। हे विश्ववेदस् [सब प्रकार का ज्ञान जानने वाले] राष्ट्रवासियो! आप सब हमारी बुद्धि और सत्कर्मों के उत्तम रक्षक होकर रहें।)

> यथा वसन्ति देवास्तथेदसत्तदेषां नकिरा मिनत्।
> अरावा चन मर्त्यः।
>
> ऋ० ८—२८—४

(विद्वान तेजस्वी या उत्तम जन (देव) जैसा चाहते हैं उनकी वह इच्छा वैसी ही सफल होती है। अदानशील मूर्ख मनुष्य उनका कुछ नहीं बिगाड़ सकते।)

वरुणो मित्रो अर्यमा स्मद्रातिषाचो अग्नयः।
पत्नीवन्तो वषट्कृताः। ऋ० ८—२८—२

(वरुण, मित्र और अर्यमा (वरणयोग्य, सर्वस्नेही, दुष्टदमन न्यायकारी) तीनों अग्नि (अग्रणी) उत्तम समृद्धि का सेवन करने वाले प्रजापालक शक्ति नीति-युक्त होकर उत्तम प्रकार से सत्कृत हों।)

सप्तानां सप्त ऋष्टयः सप्त द्युम्नान्येषाम्।
सप्तो अधि श्रियो धिरे।

ऋ० ८—२८—५

(तीव्र गतिशील वीरों और विद्वानों के अस्त्र और दृष्टि भी दूर तक पहुँचने योग्य हों। इनके धन और यश भी सर्पणशील हों। वे व्यापक सम्पदाओं को ही धारण करें।)

इन मंत्रों के ऋषि वैवस्वत मनु को यदि केवल मान लिया जावे या उनके नाम को केवल यौगिक अर्थ में ग्रहण किया जावे तो अन्य ऋषियों का अस्तित्व भी संदिग्ध हो उठेगा, परन्तु इनका अस्तित्व स्वीकार कर लेने पर आदि पुरुष मनु के अस्तित्व का समर्थन स्वाभाविक हो जाता है। जिन मंत्रों के ऋषि मनु हैं उनके भाव भी आदि मनु के व्यक्तित्व को अधिक से अधिक स्पष्ट ही करते हैं।

सारांश यह कि जिस मनु से नवीन संसृति का सूत्रपात होता है वह ऐतिहासिक पुरुष भी है और मानव-विकास-रूपक का आधार भी।

या नः पथः पित्र्यान् मानवादधिदूरे नैष्ट परावतः

ऋ० ८—३०—३

(हम अपने पूर्वज मनु के पथ से विचलित न हों)

शतपथ ब्राह्मण में आता है।

मनुर्वैवस्वतो राजेत्याह तस्य मनुष्या विशः।

(मनु वैवस्वत राजा है मनुष्य उसकी प्रजा है।)

अतः चाहे हम मनु को धर्म शास्त्र का रचयिता मानें, चाहे मन्वन्तर का प्रवर्तक, चाहे कोई वैदिक ऋषि, परन्तु उसे कोई स्थिति न देना कठिन होगा।

इस मनु या ज्ञानवान को दो व्यक्तित्व घेरे हैं जिनकी ऐतिहासिक प्रतिष्ठा के साथ भावमूलक व्याख्या भी सहज है।

श्रद्धा कामगोत्र की कन्या और ऋग्वेद के कुछ मन्त्रों के सम्बन्ध में ऋषि की स्थिति रखती है।

ऋषि श्रद्धा कामायनी। देवता श्रद्धा।
श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः
श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि।

ऋ० १०—१५१—१

(सत्य धारणा से ही अग्नि प्रज्वलित की जाती है, सत्य धारणा से ही हविष्य की आहुति दी जाती है। हम अपने मस्तक में (चित्त में) सर्वोपरि सेव्य के विषय में, वाणी द्वारा ही अपनी सत्य धारणा को आवेदित करें।)

प्रियं श्रद्धे ददतः प्रियं श्रद्धे दिदासतः।
प्रियं भोजेषु यज्वस्विदं म उदितं कृधि।

ऋ० १०—१५१—२

(हे सत्य भावना ! तू मेरे वचन (उत्थान) को उदार के लिए प्रिय बना, दान की इच्छा रखने वाले के लिए प्रिय बना, प्रजापालक और यज्वी के लिए प्रिय बना)।

श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यन्दिनं परि।
श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचि श्रद्धे श्रद्धापयेह नः॥

(हम प्रभातकाल में श्रद्धा (सत्य धारणा) की प्रार्थना करते हैं दिवस के मध्य काल में भी उसी का ध्यान करते हैं सूर्य के अस्तकाल में भी हम उसी की उपासना करते हैं। हे सत्य धारणावती देवि ! तू इस जगत में हमें श्रद्धा ही को धारण करने दे)।

मनु के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में जो कुछ सत्य है वही श्रद्धा कामायनी के सम्बन्ध में भी सत्य रहेगा। इतिहास की परिधि से बाहर खड़े इन दोनों व्यक्तियों के विषय में बहुत निश्चित रूप से कुछ कहना सम्भव नहीं, परन्तु उनके अस्तित्व का अभाव प्रमाणित करने वाले प्रमाणों के अभाव में, अस्तित्व प्रमाणित करने वाले प्रमाणों को स्वीकृति न देना अनुचित ही कहा जायगा।

जो कुछ हो मनु और श्रद्धा के नाम से सम्बद्ध सूक्तों में ऐसा स्पष्ट अन्तर है कि हम एक में मननशील पुरुष-स्वभाव और दूसरे में विश्वास-मयी नारी-प्रकृति का परिचय सहज ही पा सकते हैं।

मनु जीवन के प्रति व्यावहारिक दृष्टिकोण रखते हैं, समृद्धि और अनुशासन को विशेष महत्व देते हैं और बाह्य जीवन की स्थिति के प्रति निरन्तर जागरूक हैं। इसके विपरीत श्रद्धा अन्तर्जगत को विशेष महत्व देती है, विश्वास के प्रति विशेष सजग है और जीवन की अन्तःस्थिति के प्रति विशेष आस्थावान है। दोनों के सूक्त मिलकर पूर्ण होते हैं। वे परस्पर विरोधी नहीं, परन्तु जीवन के प्रति अपने विशेष दृष्टिकोण के कारण अधूरे कहे जा सकते हैं। मनु की राष्ट्र-चर्चा, अनुशासन और नियमन की कथा तब पूर्ण जान पड़ती है जब वह श्रद्धा द्वारा प्रतिपादित सत्य धारणा या हृदय के विश्वास के साथ रख कर देखी जाती है। इस सत्य धारणा के बिना, इस श्रद्धा के अभाव में, प्रजापालन तथा अन्य व्यावहारिक जगत के व्यापार अपनी वास्तविक प्रेरणा खो बैठते हैं।

परन्तु 'श्रदावे श्रद्धधाति अथ मनुते' आदि में श्रद्धा अपने यौगिक अर्थ में उस विश्वास या मन के हृदयपक्ष का पर्याय है, जिसके बिना कोई सृजन सफलता नहीं पाता।

ऋग्वेद में इडा का कई प्रकार से उल्लेख है।

इडा सरस्वती मही तिस्रो देवीर्मयोभुवः
बर्हिः सीदन्त्वस्रिधः

ऋ० ५—५—८

(इडा (उत्तम विद्या), सरस्वती (वाणी) और विशाल भूमि सुख उत्पन्न करने वाली हों वे हिंसा न करती हुई आसन पर विराजें ।)

स्वयं मनु कहते हैं—

अस्य प्रजावती गृहेऽसश्चन्ती दिवे दिवे इडा धेनुमती दुहे ।

ऋ० ८—३१—४.

(इडा प्रजा युक्त होकर दिनों दिन गृह में स्थिर रहने वाली, पत्नी या गौ के समान सुख प्रदान करती है)

शाब्दिक अर्थ में इडा वाणी या बुद्धि है जिसके अभाव में मन की मनन शक्ति असम्भव हो जाती है । मनु को यदि मननशील के अर्थ में लें तो श्रद्धा उसका भाव-पक्ष और इडा ज्ञान-पक्ष का पर्याय बन जाती है । इन दोनों के सामञ्जस्य से मनुष्य की पूर्णता और विरोध में मनुष्य का अधूरा रहना स्वाभाविक है ।

धुँधले अतीत में खोया हुआ सा यह कथा-सूत्र खोजकर प्रसाद जी ने जिस काव्य की सृष्टि की वह मानव-विकास-तत्वों को आदिम इतिहास के आलोक में स्पष्ट भी कर सका और अपनी सांकेतिकता की स्वर्ण-मधुर छाया में उस आदिम इतिवृत्त को सजीवता भी दे सका ।

भारतीय जीवन पर महाकाव्यों का जैसा व्यापक और सृजनशील प्रभाव पड़ता रहा है वैसा साहित्य के किसी अन्य अंग का नहीं पड़ सका । वाल्मीकि का आदि काव्य हमारे जीवन को मर्मनिष्ठ आदर्शों की जितनी ऊँचाई तक पहुँचा सका है अमर काव्य महाभारत उतनी ही विस्तृत विविधता में प्रतिष्ठित कर सका है । अपनी अनन्त यात्रा में भारतीय जीवन उन्हीं कथाओं को नये नये स्वरों में कहता सुनता चला है, विकास की हर दिशा में उन्हीं आदर्शों का सम्बल लेकर बढ़ सका है, विविध अनुकूल परिस्थितियों में उन्हीं सुख दुःख, जय-पराजय से शक्ति और प्रेरणा पाता आया है । किसी जाति के इतने लम्बे जीवन में ऐसा साथ देने वाले महाकाव्य कठिनता से मिलेंगे ।

हिन्दी के प्रारम्भिक इतिहास ने भी यह परम्परा नहीं छोड़ी । जायसी के प्रबन्ध में यदि अलौकिकता, लौकिक रेखाओं में बँध कर लौकिक सुख-

दुखों के द्वारा अपना परिचय दे सकी तो तुलसी की यथार्थता में देवत्व इस प्रकार प्रतिष्ठित हुआ कि वह अपना घर ही भूल गया। उस समय की सब रचनायें मिलकर जो न कर सकीं उसे अकेला राम-चरित-मानस कितनी पूर्णता से कर सका है इसे जानने के लिए, भारतीय जीवन के किसी भी अंश को देखना पर्याप्त होगा।

महाकाव्य या प्रबन्ध-काव्य की इस प्रभविष्णुता का कारण वह दृष्टि-कोण है जो जीवन को पूर्णता में देखना चाहता है। भारतीय संस्कृति समन्वयात्मक रही है और इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उसे अपने सामने एक विस्तृत पर सामञ्जस्यमूलक क्षितिज रखना आवश्यक हो जाता है। जीवन की विविध परिस्थितियों में जो सामञ्जस्य व्यक्त हो सकता है वह एक परिस्थिति की सीमा में अव्यक्त ही रहेगा। एक रेखा अपनी स्थिति रखती है पर रेखाओं का समन्वय व्यक्त करने में समर्थ नहीं, एक रंग अपना आभास दे सकता है, परन्तु रंगों का सामञ्जस्य प्रकट करने की क्षमता नहीं रखता। इसीसे भारतीय कवि स्वभावतः जीवन को सम्पूर्ण विविधता के साथ चित्रित करने का पक्षपाती रहा है और उसका श्रोता समष्टि के बीच में बैठ कर सुनने का इच्छुक। धर्म-आख्यानों की क्रमबद्धता, वीरता की गाथाओं का निश्चित आदि अन्त, रामायण महाभारत जैसे काव्यों की सामान्यता तथा इन सबको साथ सुनने की परम्परा के पीछे जीवन की कितनी आदिम प्रवृत्तियाँ छिपी हैं इसे कहना कठिन है! परन्तु भारतीय साहित्य को मूल उत्स से विच्छिन्न न करने के लिए उसमें व्याप्त सामञ्जस्य और अन्तर्निहित समन्वयात्मक प्रेरणा का परिचय आवश्यक रहेगा।

जीवन के अन्तिम छोर पर स्थित कल्याण पर दृष्टि को केन्द्रित कर कवि बीच के दुःख प्रतिकूल परिस्थितियाँ और अनेक पराजयों को पार कर अक्रान्त भाव से ओजस्वित् वाणी में कहता है—'यह तुम्हारा लक्ष्य है और वे रहीं कठिन परीक्षायें! क्या तुम यहाँ तक पहुँचते पहुँचते श्रान्त हो गए?' और पाठक हर साँस में उत्तर देता है—'नहीं, नहीं।'

ऐसी यात्रा के लिए महाकाव्य का अवकाश चाहिए, इसीसे महाकाव्य हमारे प्रत्येक श्रेष्ठ कवि का प्रिय स्वप्न रहा है।

खड़ी बोली के वैतालिकों से हमें प्रियप्रवास और साकेत जैसे प्रबन्ध प्राप्त हो चुके हैं। इन काव्य-स्रष्टाओं के दृष्टि-बिन्दु में भारतीयता ही नहीं आस्तिक भारतीयता है, इसी से उन्होंने उन दो चरित्रों का आधार लिया जो भारतीय संस्कृति की सब अग्नि परीक्षायें पार कर उसके समस्त वैभव का भार सँभालते रहे हैं। इन आस्तिक कवियों ने भारतीय कल्याण-भावना को अपनी मौलिकता से नवीन रूप में उपस्थित किया। तार उनके अपने हैं पर रागिनी सब कालों में व्याप्त अखण्ड।

प्रसाद जी की कामायनी महाकाव्यों के इतिहास में एक नया अध्याय जोड़ती है क्योंकि वह ऐसा महाकाव्य है जो ऐतिहासिक धरातल पर भी प्रतिष्ठित है और सांकेतिक अर्थ में मानव विकास का रूपक भी कहा जा सकता है। कल्याण-भावना की प्रेरणा और समन्वयात्मक दृष्टि-कोण के कारण वह भारतीय परम्परा के अनुरूप है।

हिन्दी साहित्य को प्रसाद जी की देन विविधरूपी है। नाटकों में उन्होंने ऐतिहासिक इतिवृत्त को सजीव और सुन्दर साकारता दी, कहानियों में अनुभव की उजली-श्याम रेखाओं में भाव के रङ्ग भर जीवन के लघु मर्मचित्र उपस्थित किये, काव्य की पिछली एक-रसता को अपनी भावप्रवण कल्पना से गतिशील कर उसे एक रहस्यमय दिशा और निश्चित पथ दिया, उपन्यास में यथार्थ की निर्ममता में अपनी कल्याणी ममता अंकित कर बुलबुल के छाया-लोक को व्यक्त किया और जीवन के विकास को रूपक का शरीर दे उसमें समन्वयात्मक स्पन्दन भरा।

इतना अधिक लिखने पर भी उनकी कृतियों में ऐसा कुछ नहीं जो साधारण श्रेणी में रखा जा सके।

इस सफलता के मूल में दो विशेषतायें मिलेंगी—भारतीय संस्कृति की सर्वांगीण विशालता और बुद्ध-संस्कृति की समवेदनामूलक व्यापकता।

संस्कृति का ज्ञान भिन्न वस्तु है और उसे अपने जीवन में घुला

मिला लेना भिन्न, इसीसे किसी संस्कृति का ज्ञाता उसका सफल प्रतिनिधि भी हो, यह प्रायः सम्भव नहीं हो पाता।

भारतीय संस्कृति के सम्बन्ध में प्रसाद जी का ज्ञान जितना विस्तृत है उनके अन्तर्जगत पर उस संस्कृत का रङ्ग भी उतना ही गहरा और स्थायी है। अतः उनकी बुद्धि और हृदय का समन्वय उनकी कृतियों में वैसी ही सजल, कोमल और दीप्त झलक देता रहता है जैसे मोती में मोती का पानी।

सदा से भारतीय दृष्टि-बिन्दु, कल्याणाभिनिवेशी है, इसी से प्रसाद जी कि दृष्टि भी अपने लक्ष्य तक पहुँचने के क्रम में बीच के सुख-दुःखों, समविषम परिस्थितियों में उलझ कर नहीं रह जाती। पर इससे उनकी जिज्ञासा उनका तर्क महत्व नहीं खोता, क्योंकि वे कल्याण को भी तर्क से प्रमाणित करने की क्षमता रखते हैं। कल्याण उनके हृदय के संगीत का सम ही नहीं वह उनकी बुद्धि की गति का केन्द्र भी है, इसीसे मंगलभावना के प्रति उनका दृष्टिकोण वैज्ञानिक रह कर ही हृदय के भाव पक्ष को निश्चित दिशा देने में समर्थ है। बुद्धि के अनन्त विस्तार और भावना के चित्रमय धरातल पर उनके साहित्य ने जो स्थिति पाई है उसमें ज्ञान की गहराई है, विवेक की विविधता है, मानवीय सद्भावना की सजलता है और कल्पना की दीप्ति है। उनके साहित्य में ऐसा कुछ खोजना कठिन है जो भारतीय नहीं, फलतः जो हमारे जीवन के मूलतत्वों से सम्बद्ध नहीं और परिणामतः जो उत्कृष्ट नहीं। उनकी मौलिकता, जीवन के हर स्तर को खोजने की प्रवृत्ति, किसी अन्य पौराणिक आधार से संतुष्ट न होती इसी से उन्होने ऐसा ऐतिहासिक और भावरूपक सम्मिश्रित आधार ढूँढ़ लिया जिसमें उनकी प्रतिभा उज्ज्वल से उज्ज्वल साकारता पा सकी। उनकी स्वभावगत विशेषताओं को कामायनी में जितना मूर्त्त पर सजीव रूप मिल सका है उतना किसी अन्य कृति में सम्भव न होता।

हिन्दी में ऐसा काव्य दूसरा नहीं, अतः इसके सम्बन्ध में अज्ञान गहरा हो तो आश्चर्य नहीं। इसके अतिरिक्त वह छायावाद की सीमा में निर्मित

हुआ है, अतः आज का यथार्थोन्मुख युग उसके सम्बन्ध में भ्रान्त धारणायें बना कर जितना अविश्वस्त हो सकता है उतना उसके महत्व की स्वीकृति देकर नहीं। इन त्रुटियों के साथ हममें वह संकीर्णता भी स्वाभाविक है जो बहुत काल तक दासता का सुख भोग चुकने वाली जाति में आवश्यम्भावी हो जाती है। हमारा जीवन ओजस्वित् नहीं हमारा दृष्टिकोण व्यापक नहीं और हमारा मस्तिष्क और हृदय स्वस्थ नहीं अतः कला या साहित्य को समुचित रूप देना हमारे लिए सहज नहीं। जब अचानक अपवाद के समान कुछ उत्कृष्ट आ जाता है तब वह हमारे सघन अन्धकार में आलोक-स्तम्भ न होकर धूमकेतु बन जाता है। हममें से प्रत्येक व्यक्ति अपनी लघुता के प्रति इतना एकनिष्ठ आस्थावान है कि वह अपनी महानता के परिचायक अपवादों से आतंकित हो उठता है और प्रायः अपना भय कम करने के लिए उन्हें अति साधारण प्रमाणित करने में सारी शक्तियाँ लगा देता है। ऐसी स्थिति में कामायनी का मूल्यांकन सहज नहीं।

कामायनी को तत्वतः समझने के लिए यह जान लेना उचित है कि छायावाद युग की सबसे सुन्दर सृष्टि होने पर भी और रहस्य भावना के वैतालिक की कृति होने पर भी कामायनी का लक्ष्य न स्वरूप की छाया है न निराकार का रहस्य! उसमें जो कुछ रहस्य है वह मानव-प्रकृति की ऐसी रहस्यात्मकता है जिससे मनुष्य, मनुष्य होने के नाते छुटकारा पा ही नहीं सकता। उसके सांकेतिक अर्थ के सम्बन्ध में प्रसाद जी स्वयं कहते हैं—'यह आख्यान इतना प्राचीन है कि इतिहास में रूपक का अद्भुत मिश्रण हो गया है। इसीलिए मनु, श्रद्धा और इडा इत्यादि अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए सांकेतिक अर्थ की भी अभिव्यक्ति करें तो मुझे आपत्ति नहीं।" अतः सांकेतिक अर्थ ऐतिहासिक यथार्थता से सर्वथा स्वतन्त्र है ऐसा मान लेना बहुत उचित नहीं जान पड़ता। प्राधान्य तो उस व्यक्तित्व का रहेगा जिसका इतिहास हमारे वेद से लेकर पुराणों तक और भारत से लेकर सुदूर पाश्चात्य देशों तक बिखरा हुआ है। हमारे यहाँ साधारणतः पाठक और आलोचक या तो इस

प्राचीन इतिवृत्त से इतने परिचित नहीं या इतने संशयालु हैं कि इसे एक अधूरे सांकेतिक अर्थ में ग्रहण कर लेना स्वाभाविक हो जाता है। कहना व्यर्थ होगा कि इस प्रवृत्ति ने कामायनी को सम्पूर्ण सजीवता के साथ ग्रहण करने में कोई सहायता न देकर बाधा ही पहुँचाई क्योंकि उसकी सांकेतिकता का आधार नष्ट करके उसकी प्रेरणा को मूलतः समझना सहज नहीं रह जाता।

कामायनी मनु के मस्तिष्क और तर्क और विश्वास के अन्तर्द्वन्द्व या संघर्ष से सम्बन्ध रखती है अवश्य, परन्तु वह अन्तर्द्वन्द्व जीवन के कठोर धरातल पर ही मूल्य रखता है। यदि उसे केवल सूक्ष्म अलौकिकता में निर्वासन दे दिया जावे तो मनुष्य की किसी भी मानसिक स्थिति का विश्लेषण या उसकी सक्रिय प्रेरणाओं का वैज्ञानिक विवेचन भी इस लोक का नहीं रह जायगा। अतः कामायनी को उसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर स्थापित करके ही उसकी सांकेतिक रूप-रेखा का मूल्य आंकना उचित होगा। लक्ष्यतः कामायनी उसी महासंगीत की पुरातन टेक दोहराती है जो हमारी संस्कृति में आदिम काल से व्याप्त है। इसीसे मनु अपने अकेलेपन को,

शैल निर्झर न बना हतभाग्य
गल सका नहीं जोकि हिमखण्ड,
दौड़कर मिला न जलनिधि अंक
आह वैसा ही हूँ पाषंड।

से व्यक्त करके समष्टि की अदम्य शक्ति का बोध प्राप्त करते हैं—

शक्ति के विद्युत् कण जो व्यस्त
विकल बिखरे हैं हो निरुपाय,
समन्वय उसका करे समस्त
विजयिनी मानवता हो जाय।

अपने अहम् के पोषक मनु

विश्व में जो सकल सुन्दर हो विभूति महान,
सभी मेरी हैं सभी करती रहें प्रतिदान।

यही तो मैं ज्वलित बाड़व-वह्नि नित्य अशान्त
सिन्धु लहरों सा करें शीतल मुझे सब शान्त।

में अपना परिचय देकर ही पूर्ण नहीं हो जाते। उनकी मुक्ति की खोज तो तब समाप्त होती है जब—

सबकी सेवा न पराई
यह अपनी सुख-संसृति है,
अपना ही अणु अणु कण कण
द्वयता ही तो विस्मृति है!
सब भेद भाव भुलवा कर
सुख दुख को दृश्य बनाता,
मानव कह रे 'यह मैं हूँ'
यह विश्व नीड़ बन जाता!

की भावना से तादात्म्य कर लेते हैं। यह तादात्म्य बुद्धि से दिशा और विश्वास से गति पाता है, अतः बुद्धि और हृदय का समन्वय ही कामायनी का केन्द्र-बिन्दु है।

इस समन्वय तक पहुँचने के लिए प्रसाद जी ने जो पथ ग्रहण किया है वह चिरन्तन लक्ष्य से जुड़ा होने पर भी नवीन दिशा से आरम्भ होता है। जिन कथात्मक इतिवृत्त और सनातन घटनाओं के सहारे अन्य कवि अपने लक्ष्य तक पहुँचते रहे हैं वे कामायनी में विशेष महत्व नहीं रखते, क्योंकि यहाँ ये सब एक स्पन्दित, गतिशील और चित्रमय मनोविज्ञान के पार्श्वच्छद मात्र बन कर ही स्थिति पाते हैं।

मनु के उद्दाम अन्तर्द्वन्द्व, श्रद्धा के प्रशान्त निष्कम्प आत्म विश्वास के दो तटों के बीच से पथ बनाते हुये कथा-प्रवाह में रङ्गों के इतने आवर्त्त और रूपों की इतनी तरंगें उठती रहती हैं कि हमें परिचित घटनाओं के अभाव का बोध ही नहीं होता।

हमारे सामने जो क्षितिज है वह किसी लोक-विश्रुत या अलौकिक

चरित्र की दिग्विजय यात्रा नहीं चित्रित करता, प्रत्युत् उसके सब हल्के गहरे रङ्ग, सारी लघु दीर्घ रेखायें दो व्यक्तित्वों को स्पष्ट करती रहती हैं और ये दो व्यक्तित्व हैं—आदिम पुरुष और आदि नारी। अतः उनमें अलौकिकता से अधिक उन प्रवृत्तियों का महत्व है जिनसे लोक का निर्माण सम्भव हो सका। इस दृष्टि से उनकी यह चारित्रिक विशेषतायें आज भी हमारी हैं।

इस व्यक्ति-प्रधान युग में पौराणिक देव-चरित्र या लौकिक दिव्य-कथायें हमारे लिए इतना आकर्षण नहीं रखतीं जितना अपनी प्रकृति या विकृति के विवेचन में रहना स्वाभाविक है। अतः कामायनी के पुरुष और नारी एक ऐसी भूमिका में उपस्थित होते हैं, जिसे आज के मानव मानवी भी नहीं छोड़ सके।

आज का पुरुष भी—

आकर्षण से भरा विश्व यह
केवल भोग्य हमारा,

कह कर नारी से उत्तर पा सकता है—

अपने में सब कुछ भर कैसे
व्यक्ति विकास करेगा ?

आज भी श्रद्धा के सम्बन्ध में कही गई यह पंक्तियाँ—

देवों की विजय, दानवों की
हारों का होता युद्ध रहा,
संघर्ष सदा उर अन्तर में
जीवित रह नित्य विरुद्ध रहा!
आँसू से भीगे अञ्चल पर
मन का सब कुछ रखना होगा
तुमको अपनी स्मित रेखा से
यह सन्धिपत्र लिखना होगा।

प्रत्येक नारी के सम्बन्ध में सत्य प्रमाणित होगी। इसी प्रकार इ
युग का सुखलिप्सु पुरुष भी किसी दिन—

ज्ञान दूर कुछ, क्रिया भिन्न है
इच्छा क्यों पूरी हो मन की!

को तत्वतः समझ कर मनु के समान ही श्रद्धायुक्त होकर कह सकेगा—

शापित न यहाँ है कोई
तापित पापी न यहाँ है,
जीवन वसुधा समतल है
समरस है जो कि जहाँ है।

'कामायनी—एक परिचय' के लेखक और उसके कुछ लिखते रहने के स्वभाव से मैं उस समय से परिचित हूँ जब वह बालक विद्यार्थी था अतः उसके सम्बन्ध में कुछ कहते हुए मुझे प्रसन्नता और संकोच की वैसी ही सम्मिश्रित अनुभूति होती है जैसी मा को अपने सयाने बालक के सम्बन्ध में हो सकती है।

लेखक की अन्य कृतियों द्वारा हिन्दी साहित्य को उसका जो परिचय मिल चुका है उसमें कुछ और जोड़ने की आवश्यकता नहीं जान पड़ती।

आलोचना एक सृजन के आधार पर दूसरा सृजन है, अतः कवि और कलाकार में जिस प्रतिभा का होना अनिवार्य है वही किसी अंश तक आलोचक में भी अपेक्षित रहेगी। कुछ साधारण नियम, कला के सामान्य रूप को लक्ष्य कर बनाये गए हैं अवश्य, पर जैसे उन्हीं का अक्षरशः पालन किसी को श्रेष्ठ कवि नहीं बना देता, उसी प्रकार सफल आलोचना भी केवल नियम-पालन का आवश्यक परिणाम नहीं। अन्य कला-साहित्य के समान आलोचना में भी दो पक्ष रहेंगे—उसका विज्ञान जिसकी परिधि के भीतर रह कर हम किसी कृति की बाह्य रेखायें नापते हैं और दूसरी वह सूक्ष्म प्रवृत्ति जिससे हम उसका अन्तर्निहित स्पन्दन तोलते हैं। यह सूक्ष्म प्रवृत्ति वही है जो हमें वनस्पति-विज्ञान की काट छाँट

के बिना भी फूल के सौन्दर्य को उसकी सम्पूर्णता में ग्रहण करने की शक्ति देती है, अर्थ शास्त्र के नियमों की सहायता के बिना भी, चाँदनी के निस्तब्ध और निर्झर के मुखर वैभव का मूल्य आँकने का विवेक देती है, तर्कशास्त्र के अनुमान प्रमाण के बिना भी, जीवन के संगीत में अपनी आत्मा का स्वर मिलाने की प्रेरणा देती है।

मनुष्य के पास, जीवन के सब स्तर चीरकर भीतर तक प्रवेश करने वाली तर्क-बुद्धि और वैज्ञानिक दृष्टिकोण हो, तो आकर्षण-विकर्षण प्रवृत्ति निवृत्ति के मूल में रहने वाला हृदय-पक्ष आवश्यक नहीं, यह धारणा निर्भ्रान्त सत्य नहीं क्योंकि केवल तर्क-बुद्धि को लेकर हम किसी भी ज्ञेय को सब ओर से स्पर्श नहीं कर पाते। साधारण व्यक्ति भी अपने भीतर ऐसी असाधारणता छिपाये है, तुच्छ सा कार्य भी ऐसी रहस्यमयी प्रेरणा का अनुगामी है, सामान्य परिस्थिति भी ऐसी विशेष समस्याओं का भार सँभाले है जो बुद्धि की परिधि में नहीं आती।

आलोचक के सम्बन्ध में यह कठिनाई और बढ़ जाती है क्योंकि उसे एक व्यक्ति की अनेक प्रवृत्तियों, सुख-दुखात्मक अनुभूतियों, बौद्धिक निष्कर्षों का सम्मिश्रित परिणाम मात्र मिलता है। इसी निर्मित कृति को सामने रख कर उसे प्रतिकार के स्थूल उपकरण, से लेकर उसके सूक्ष्म अन्तर्जगत की प्रेरणा तक का पता लगाना पड़ता है। जीवन के प्रति एकान्त विज्ञानवादी होकर वह ऐसे अनेक अमूल्य तत्वों को अनदेखा कर सकता है जो उस कृति के अँधेरे कोनों को आलोकोद्भासित करने में समर्थ हैं। साहित्य और विशेष कर काव्य तो हृदय के ही निकट है अतः आलोचक यदि हृदय की सहायता नहीं चाहता तो उसकी एकांगी बुद्धि सुन्दरतम निर्माण को भी तार तार करती हुई ऐसी स्थिति तक पहुँच सकती है जहाँ वह अपने पैनेपन के लिए 'न इति' 'न इति' कह सके पर कृति के सम्बन्ध में मौन हो जावे।

कामायनी जीवन का जैसा सन्तुलित चित्र उपस्थित करती है उसकी विवेचना के लिए बुद्धि और हृदय का समन्वयात्मक सहयोग ही अपेक्षित रहेगा। प्रस्तुत लेखक ने इस सन्तुलन का महत्व समझा है,

इसीसे 'एक परिचय' इतना भावमय नहीं कि बुद्धि उसे अस्वीकार कर दे और इतना ज्ञानमय नहीं कि हृदय विरक्त होने लगे। उसने अपनी आत्मा के स्वर को प्रसाद के काव्य-संगीत में मिला कर उसका मूल्य आँका है इसी से यह परिचय कामायनी का ही नहीं लेखक के मस्तिष्क और हृदय के समन्वय का भी मूल्यांकन है। लेखक का उद्देश्य कामायनी की विशेषतायें स्पष्ट करते चलना है। अतः यदि वह दोष तत्व के अन्वेषक के रूप में उपस्थित न हो सके तो स्वाभाविक ही कहा जायगा।

कामायनी का प्रथम सर्ग मैंने प्रसाद जी से ही सुना था, अन्तिम सर्ग उनसे सुनने का अवसर मिलने से पहले ही वे महान कवि दिवंगत हो गए। उनके इस अमर काव्य के 'एक परिचय' में कुछ शब्द लिखने का उद्देश्य कवि के प्रति कृतज्ञता-प्रकाशन और परिचायक के लिए आशीर्वाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं।

—महादेवी

काव्य-कला

मानव-जीवन के अनुभूत भावों तथा विचारों की समन्वयात्मक सृष्टि को साहित्य कहते हैं। महाकवि भवभूति ने साहित्य को आत्मा की कला कहा है—

वन्देमहि च तां वाणीममृतामात्मनः कलाम्।

विश्व में बिखरे विभिन्न उपादानों के समुचित रस-ग्रहण तथा सम्मिश्रण से जिस प्रकार मधुमक्खी मधु का निर्माण करती है उसी प्रकार कलाकार भावों की बिखरी राशि के समन्वयात्मक साधनों से साहित्य की सृष्टि करता है। अन्तर इतना ही है कि मधुमक्खी मधु में अपनी आत्मा का रस नहीं मिला पाती और साहित्यकार अपने साहित्य में अपनी आत्मा का रस भी भर देता है। 'यदि साहित्य को आत्मा का कुसुम कहा जाय तो उपयुक्त होगा। जिस प्रकार एक फूल अपने वृक्ष के समस्त रस को अपने अन्दर आकर्षित करके एक नवीन, उज्ज्वल आह्लादमय पूर्ण रूप में विकसित हो उठता है, ठीक उसी प्रकार साहित्य भी मनुष्य के हृदय के समस्त रस को अपने अन्दर आकृष्ट करके एक नवीन, उज्ज्वल और आह्लादमय पूर्ण रूप में विकसित हो उठता है। अन्ततः जिस प्रकार एक फूल अपने वृक्ष के रस को छोड़कर मूल में और कुछ नहीं है ठीक उसी प्रकार साहित्य भी मूल में मनुष्य के हृदय के रस के सिवाय अन्य कोई वस्तु नहीं है।"

साहित्य की इस उपर्युक्त विवेचना से यह सहज ही स्पष्ट हो जाता है कि साहित्य का प्रधान विषय भाव है ज्ञान नहीं और साहित्य की इस भावात्मक अभिव्यक्ति में काव्य का एक विशेष महत्व है। भावों की सूक्ष्मता को कलाकार जब अपने हृदय की समवेदनात्मक स्पर्शिता से स्थूल रूप में (भाषा में) संयोजित कर देता है तब हम उसे काव्य कहते हैं। भावों पर तो मनुष्य मात्र का समान अधिकार है, किन्तु कलाकार उन्हें एक प्रकार की विशेष मूर्ति मत्ता देकर सबके सामने इस रूप से उपस्थित करता है कि वे सब के लिये आनन्द का कारण बन जाते हैं, यही कलाकार की अपनी विशेषता है। भाषा में भावों की प्रतिष्ठा के लिये कलाकार को प्रमुखतः दो साधनों की शरण लेनी पड़ती है—चित्र और संगीत की। चित्र, कलाकार के भावों को एक निश्चित स्वरूप देता है और संगीत भावों को संचरणशक्ति। मानव-हृदय आदि काल से अपनी इस भावात्मक अभिव्यक्ति के लिये प्रयत्नशील है और कवि मानव हृदय की इस सनातन साध के साधन मात्र हैं, इसमें सन्देह नहीं। कवि अपनी साधना से भावों की विक्षिप्त स्थिति में सत्य तथा गति का सामञ्जस्य करने के बाद ही उसे संसार के सामने रखता है क्योंकि मानव मन के भीतर की सभी भावनायें तथा प्रवृत्तियाँ शेष विश्व के साथ उसका सम्बन्ध स्थापित करने के लिये ही उदित होती हैं। इसी सम्बन्ध के द्वारा मनुष्य अपने अस्तित्व की सार्थकता को सत्य प्रमाणित कर सकता है, अन्यथा नहीं। इस प्रकार हम देखते हैं, कि हृदय-सत्य के साथ भावों के शुद्ध रस का सम्बन्ध स्थापित कराने में कवि का सबसे बड़ा कौशल है। विश्व में व्यक्ति के साथ सत्य का मेल तीन प्रकार से सम्भव है—बुद्धि का मेल, प्रयोजन का मेल और आनन्द का मेल। कवि अपने सत्य का मेल सदैव

आनन्दानुभूति के ही लिये कराता है। याज्ञवल्क्य ने इसी भावना की सुबोधता के लिये गार्गी से कहा था—

न वारे पुत्रस्य कामाय पुत्रः प्रियो भवति
आत्मनस्तु कामाय पुत्रः प्रियो भवति।

अस्तु, कवि काव्य के माध्यम से अपने भीतर के आनन्द एवं सत्य को प्रकाशित करता है और संसार के समस्त जीवों में उसकी सार्थकता के लिये व्याकुल रहता है। अपनी आत्मीयता की सीमा को अधिक से अधिक बढ़ाने और अपने सत्य को अधिक से अधिक दूसरों तक पहुँचा देने में ही उसकी कला की क्षमता निहित है। कलाकार नाना प्रकार के संकेतों से अपने आनन्द को दूसरों के हृदयों में जगाकर उसकी सत्यता चरितार्थ करना चाहता है, इस क्रिया की सफलता में सत्य और सुन्दर एक हो जाते हैं। यही कलात्मक सत्य का समुज्ज्वल स्वरूप है।

"संसार-सागर की रूप-तरंगों से ही मनुष्य की कल्पना का निर्माण और इसी की रूप-गति से उसके भीतर विविध भावों या मनोविकारों का विधान हुआ है। सुन्दर, मधुर, भीषण या क्रूर लगने वाले रूपों या व्यापारों से भिन्न सौन्दर्य, माधुर्य भीषणता या क्रूरता कोई पदार्थ नहीं। इस प्रकार रूप-विधान तीन प्रकार के होते हैं—

१—प्रत्यक्ष रूप-विधान
२—स्मृत रूप विधान
३—कल्पित रूप-विधान

इन तीनों प्रकार के रूप-विधानों में भावों को इस रूप में जागरित करने की शक्ति होती है कि वे रस-कोटि में आ सकें।" दूसरे शब्दों में इसे यों भी कह सकते हैं कि कला का आधार

'एकपरिचय

कल्पना, अनुभूति एवं यथार्थ-ज्ञान है, जिसका समुचित सदुपयोग कवि की प्रतिभा और साधना की अपेक्षा रखता है। कला, विशेष कर काव्य-कला मानव-हृदय की उपज है, जीवन की अनुभूतिमयी मार्मिक अभिव्यञ्जना है। यह वह साधन है, जिसके द्वारा मानव-हृदय का कलात्मक सहयोग तथा सम्बन्ध शेष मनुष्यों, प्राणियों और प्रकृति की विभिन्न वस्तुओं से होता है। इसी कारण जड़-चेतन सभी का काव्य-प्रतिपादन होता है किन्तु यह कहने की आवश्यकता नहीं कि मानव जीवन से इसका विशेष और विशिष्ट सम्बन्ध है। कवि अपनी कविता का स्रष्टा होता है और उसके द्वारा वह अपने जीवन-सम्बन्धी विचारों, अनुभवों, सुरुचियों और विश्वासों को समाज तथा संसार के सामने रखता है। जीवन की भिन्न परिस्थितियों का रागात्मक उद्‌घाटन तथा भिन्न मनोदशाओं का कलात्मक प्रत्यक्षीकरण ही काव्य का उपादान है। अपनी इसी विशेषता और साकारता के कारण वह मानवता से दूर नहीं हो सकता। कला की साधना अनुभव, कल्पना और अध्ययन की अपेक्षा रखती है और यही कारण है कि कला के अनेक रूप मिलते हैं जो कलाकार की व्यक्तिगत विशेषताओं और मान्यताओं से प्रस्फुटित होते हैं। काव्य मानव-जीवन के अनेक अंगों का प्रतिपादन करता हुआ मनुष्य-समाज के लिये समवेदना की सूझ देता है। जीवन से अपना स्वाभाविक सम्बन्ध रखने के कारण काव्य मानव-हृदय को परिष्कृत भी करता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि काव्य जीवन की बाह्य सुघारुता तथा परिस्थितियों को पोषित करता हुआ हमारे भावों को जीवन देता है। आशय यह कि काव्य का मानव जीवन से सीधा सम्बन्ध है। किसी समालोचक ने ठीक ही कहा है—"कविता जीवन की वस्तु है, उसका आविर्भाव जीवन से होता है और उसका अस्तित्व भी जीवन के लिये है।"

कामायनी

काव्य, मानव हृदय के भावों की संरक्षा करता हुआ जीवन की व्याख्या भी करता है। काव्य में, जीवन के दोनों पहलुओं (बाह्य और भीतरी) को बराबर स्थान है, कवि अपने व्यक्तित्व से इनका निर्वाह करता है। कलाकार की यही वैयक्तिक विशेषता उसकी कला का प्राण है। प्रसाद जी ने काव्य को आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति कहा है। संकल्पात्मक अनुभूति का सौन्दर्यमयी तथा कल्याणमयी होना आवश्यक है, तभी वह एक रमणीय आकार में उतर सकती है अन्यथा नहीं। काव्य में इस आत्मानुभूति की प्रधानता रहती है सम्भवतः सत्य, शिव और सौन्दर्य इसी के उपकरण हैं। काव्य के विषय में आचार्यों में बड़े मतभेद हैं। उसका ध्येय तो और भी विवादास्पद है, कुछ लोग काव्य को साधन मानते हैं और कुछ लोग साध्य। काव्य को किसी साध्य का साधन मानना ही उपयोगितावाद और स्वयं साध्य मानना कलावाद है। यह विवाद बहुत पुराना है किन्तु अभी तक सर्वमान्य निश्चय नहीं प्राप्त हुआ और शायद भविष्य में भी न प्राप्त हो किन्तु इतना तो निश्चित है कि कोई भी मानव-सृष्टि उपयोग, आदर्श और उद्देश्य-हीन नहीं हो सकती क्योंकि जीवन के दैनिक अनुभव से यह ज्ञात होता है कि मनुष्य बिना किसी उद्देश्य के कभी किसी कार्य में संलग्न नहीं होता फिर कलाकार क्यों ऐसा करेगा? मनुष्य की प्रकृति प्रारम्भ से ही एक निश्चित लक्ष्य की ओर उन्मुख है और उसकी किसी भी कृति की इसी में सार्थकता भी है। तब उसकी कला उद्देश्यहीन और आदर्शहीन कैसे हो सकती है? किन्तु जीवन में यह भी सत्य है कि तारों का नभ में तैरना, फूलों का वन में हँसना, बादलों को देखकर मोर का नाचना आदि हमारे किसी विशेष उद्देश्य के सहायक नहीं है, किन्तु उनसे हमें समय समय पर सुख और संतोष मिलता है। इस प्रकार कलावाद और उप-

योगितावाद का क्रम, विवाद तथा क्षेत्र बहुत विस्तृत है। काव्य के विषय में भारतीय आदर्श इन दोनों वादों के समन्वय के समीप है। काव्य, मानव-हृदय की अनुभूति का स्थूल स्वरूप है अतः उसमें उद्देश्य का होना अत्यन्त आवश्यक है और यही उद्देश्य काव्य में लोकोत्तर आनन्द की संज्ञा पाता है। किन्तु ऐसे काव्यों में जिनमें नीति तथा आचार एवं आदर्श का ध्यान नहीं रखा गया इस आनन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती है। यह आनन्द तो उसी काव्य में मिल सकता है जिसमें मानव जीवन का आदर्शमय कल्याणकारी स्वरूप उपस्थित किया गया हो, जिसमें आत्मा की उन्नति के साधन और जीवन की सुचारुता का आराधन हो। रामचरित मानस ऐसे काव्यों में आदर्श है। आचार, नीति और आदर्श की आधार शिला पर इसका काव्य-प्रसाद खड़ा है क्योंकि आचार काव्य को शक्ति, नीति रमणीयता तथा आदर्श जीवन देता है, यह निश्चित है। यदि काव्य में सत्य, शिव और सौन्दर्य की भाँति आचार, नीति और आदर्श का समन्वय न हो सका तो काव्य की व्यापकता में व्याघात होता है, क्योंकि नीति के आदर्शों के आधार के बिना आत्मा की सामूहिक चेतना नहीं जगती और वह विश्वात्मा में नहीं लीन हो पाती। अस्तु हम कह सकते हैं कि जहाँ जीवन होगा, वहाँ जीवन का विवेचन होगा और जहाँ जीवन का विवेचन होगा, वहाँ नैतिक सिद्धान्तों और आदर्शों की अवश्य ही स्थापना होगी। जो काव्य इन तथ्यों का अनुकरण नहीं करता वह उत्तम काव्य नहीं है।

काव्य की सार्थकता के साथ यह न भूलना चाहिये कि आचार तथा नीति सम्बन्धी सिद्धान्त जहाँ अपनी स्वाभाविकता छोड़कर एक ऐसा आग्रह बन जाते हैं जो कठोर और अप्रिय हो उठता है वहाँ काव्य में उनका कोई मूल्य नहीं रह जाता। काव्य तो अपना

कामायनी

उपादान सदैव भावना के माध्यम से लेता है, यह सभी जानते हैं। यों भी किसी वस्तु के दो रूप होते हैं, प्रथम आत्म-सम्पृक्त और द्वितीय पर-सम्पृक्त। एक रूप उसका अपना रूप है और दूसरा रूप उसका वह रूप है जो दूसरों से सम्बन्ध रखता है। यही हाल काव्य का भी है। काव्य का स्वतः सौन्दर्य अथवा उसकी उपयोगिता मनुष्य की अपनी अपेक्षा से है, क्योंकि काव्य-सृष्टि मनुष्य की अपनी दृष्टि और प्रतिभा से होती है। उपयोगिता स्वयं एक सापेक्ष वस्तु है, उसकी आवश्यकता मनुष्य की अपनी परिस्थिति पर निर्भर करती है। मनुष्य जिस परिस्थिति में जो काम एक साधारण सुई से लेता है वह काम तलवार से नहीं लिया जा सकता किन्तु इस कारण तलवार की अनुपयोगिता नहीं सिद्ध होती। काव्य भी इसी प्रकार अपनी सापेक्ष भावात्मक उपयोगिता रखता है। सौन्दर्य-स्वरूप होने के कारण वह स्वतः उपयोगी है, क्योंकि सौन्दर्य, नीति, सदाचार तथा साधना से ही निर्मित एवं संरक्षित होता है किन्तु उसका उपयोग पार्थिव-पूर्ति की अनगढ़ क्रूर कसौटी पर ही कसने से सम्भवतः उतना खरा न निकले। जब तक सुन्दर खिला हुआ फूल मनुष्य की भूख की ज्वाला शान्त करने में समर्थ नहीं होता तब तक काव्य भी जीवन की प्रत्येक स्थूलता की उपयोगिता का सहायक हो यह आवश्यक नहीं। भारतीय दृष्टिकोण से कला उपासना और निर्माण दोनों मानी जाती है, यहाँ पहुँच कर धर्म और कला में बहुत कुछ साम्य हो जाता है। हमारे यहाँ कला और धर्म, विचार और व्यवहार दोनों में एकात्म-भाव से चलते हैं, इसलिये कला न तो केवल कला के लिये है और न केवल उपयोगिता के लिये। कला की संज्ञा ही धर्म-प्राण और आदर्शमय होनी चाहिये। इस विचार-पद्धति से, इस वातावरण में, इस आदर्शतत्व में कला धर्ममय होने के कारण कभी उद्देश्यहीन अथवा

योगितावाद का क्रम, विशद तथा क्षेत्र बहुत विस्तृत है। काव्य के विषय में भारतीय आदर्श इन दोनों वादों के समन्वय के समीप है। काव्य, मानव-हृदय की अनुभूति का स्थूल स्वरूप है अतः उसमें उद्देश्य का होना अत्यन्त आवश्यक है और यही उद्देश्य काव्य में लोकोत्तर आनन्द की संज्ञा पाता है। किन्तु ऐसे काव्यों में जिनमें नीति तथा आचार एवं आदर्श का ध्यान नहीं रखा गया इस आनन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती है। यह आनन्द तो उसी काव्य में मिल सकता है जिसमें मानव जीवन का आदर्शमय कल्याणकारी स्वरूप उपस्थित किया गया हो, जिसमें आत्मा की उन्नति के साधन और जीवन की सुचारुता का आराधन हो। रामचरित मानस ऐसे काव्यों में आदर्श है। आचार, नीति और आदर्श की आधार शिला पर इसका काव्य-प्रसाद खड़ा है क्योंकि आचार काव्य को शक्ति, नीति रमणीयता तथा आदर्श जीवन देता है, यह निश्चित है कि यदि काव्य में सत्य, शिव और सौन्दर्य की भाँति आचार, नीति और आदर्श का समन्वय न हो सका तो काव्य की व्यापकता में व्याघात होता है, क्योंकि नीति के आदर्शों के आधार के बिना आत्मा की सामूहिक चेतना नहीं जगती और वह विश्वात्मा में नहीं लीन हो पाती। परन्तु हम कह सकते हैं कि जहाँ जीवन होगा, वहाँ जीवन का विवेचन होगा और जहाँ जीवन का विवेचन होगा, वहाँ नैतिक सिद्धान्तों और आदर्शों की अवश्य ही स्थापना होगी। जो काव्य इन तथ्यों का अनुकरण नहीं करता वह उत्तम काव्य नहीं है।

काव्य की सार्थकता के साथ यह न भूलना चाहिये कि आचार तथा नीति सम्बन्धी सिद्धान्त जहाँ अपनी स्वाभाविकता छोड़कर एक ऐसा आग्रह बन जाते हैं जो कठोर और अप्रिय हो उठता है वहाँ काव्य में उनका कोई मूल्य नहीं रह जाता। काव्य तो अपना

उपादान सदैव भावना के माध्यम से लेता है, यह सभी जानते हैं। यों भी किसी वस्तु के दो रूप होते हैं, प्रथम आत्म-सम्पृक्त और द्वितीय पर-सम्पृक्त। एक रूप उसका अपना रूप है और दूसरा रूप उसका वह रूप है जो दूसरों से सम्बन्ध रखता है। यही हाल काव्य का भी है। काव्य का स्वतः सौन्दर्य अथवा उसकी उपयोगिता मनुष्य की अपनी अपेक्षा से है, क्योंकि काव्य-सृष्टि मनुष्य की अपनी दृष्टि और प्रतिभा से होती है। उपयोगिता स्वयं एक सापेक्ष वस्तु है, उसकी आवश्यकता मनुष्य की अपनी परिस्थिति पर निर्भर करती है। मनुष्य जिस परिस्थिति में जो काम एक साधारण सुई से लेता है वह काम तलवार से नहीं लिया जा सकता किन्तु इस कारण तलवार की अनुपयोगिता नहीं सिद्ध होती। काव्य भी इसी प्रकार अपनी सापेक्ष भावात्मक उपयोगिता रखता है। सौन्दर्य-स्वरूप होने के कारण वह स्वतः उपयोगी है, क्योंकि सौन्दर्य, नीति, सदाचार तथा साधना से ही निर्मित एवं संरक्षित होता है किन्तु उसका उपयोग पार्थिव-पूर्ति की अनगढ़ क्रूर कसौटी पर ही कसने से सम्भवतः उतना खरा न निकले। जब तक सुन्दर खिला हुआ फूल मनुष्य की भूख की ज्वाला शान्त करने में समर्थ नहीं होता तब तक काव्य भी जीवन की प्रत्येक स्थूलता की उपयोगिता का सहायक हो यह आवश्यक नहीं। भारतीय दृष्टिकोण से कला उपासना और निर्माण दोनों मानी जाती है, यहाँ पहुँच कर धर्म और कला में बहुत कुछ साम्य हो जाता है। हमारे यहाँ कला और धर्म, विचार और व्यवहार दोनों में एकात्म-भाव से चलते हैं, इसलिये कला न तो केवल कला के लिये है और न केवल उपयोगिता के लिये। कला की संज्ञा ही धर्म-प्राण और आदर्शमय होनी चाहिये। इस विचार-पद्धति से, इस वातावरण में, इस आदर्श-तत्व में कला धर्ममय होने के कारण कभी उद्देश्यहीन अथवा

और आदर्श के इस विवेचन के बाद कला की स्थिति यथार्थ की आदर्शात्मक अभिव्यक्ति हो जाती है, यह बताने की आवश्यकता नहीं। यथार्थ में अभाव, पतन और दुःख का आधिक्य रहता है और आदर्श में भाव, उन्नति और आनन्द का। कला में इन दोनों की समन्वयात्मक समता रहती है। कलाकार न तो यथार्थवादी की तरह इतिहास का स्पर्श करता और न आदर्शवादी की तरह शास्त्र का, उसमें दोनों के आवेगों की आकुलता रहती है, दोनों के शुद्ध सौन्दर्य रूपों का निरूपण रहता है। यही कारण है कि कला में हम जीवन की सचाइयाँ तथा अनुभूतियाँ दोनों पाते हैं। किसी कला का निर्माण इन दोनों तत्वों के अनुपात से ही सम्भव होता है इसमें सन्देह नहीं। कवि अथवा कलाकार की आत्मा सदैव इसी साम्य, इसी सामञ्जस्य की साधना करती है। नीचे दी गई जीवन के कठोर धरातल में विकसित अनुभवियों की सम्मतियों से कला का स्वरूप और भी स्पष्ट हो जाता है—

कला ही जीवन और विविध कार्यों का उपादान है। साथ ही जीवन स्वयं कला है —गान्धी

जीवन यापन की विधि एक कला है और कला का कार्य किसी भी मानवीय आदर्श को कलात्मक नैपुण्य द्वारा साकार रूप प्रदान करना है। —राबर्ट पी डाउन्स

अतः कह सकते हैं कि जीवन-अनुभवों से समन्वित और सामञ्जस्यपूर्ण होकर कला का सौन्दर्य निश्चय ही आनन्दप्रद और सामूहिक होता है। स्वरूपात्मक दृष्टि से कला का समर्थन केवल सौन्दर्य के ही माध्यम से हो सकता है किन्तु सत्य और शिव की भावना से उसका मूल्य अवश्य ही अधिक बढ़ जायेगा।

कामायनी में काव्य-कला का यही समन्वयात्मक स्वरूप कवि के द्वारा उपस्थित किया गया है। उसमें भारतीय आदर्श के अनुरूप

आचारवाद-सम्मत व्यष्टि-समष्टि-हित साधक कल्याणमयी भावना का जो विकास हुआ है, वह सर्वथा ग्राह्य और गौरवशाली है। कवि ने एक पौराणिक रूपक द्वारा कल्पना तथा काव्य की मर्मस्पर्शिता से जीवन के शाश्वत सत्य की चिर पुरातन अभिव्यक्ति का स्वरूप निश्चित किया है। यही उसके व्यक्तित्व की व्यापकता और कला की सफलता है। कवि प्रसाद की कविता का प्रतिपाद्य विषय प्रेम है, प्रसाद का कवि संसार को प्रेममय मानता है किन्तु कवि का यह प्रेम न केवल आध्यात्मिक है और न केवल शारीरिक ही। प्रसाद ने प्रेम की स्वस्थ शारीरिकता का भी सम्मान किया है और उसकी अतीन्द्रियता का स्वागत भी। वे आँख के खेल का मन के खेल से मेल कराने के सदैव पक्षपाती रहे हैं। इसी कारण उनका सौन्दर्य तथा प्रेम जीवन के बीच में विकसित होता है कल्पनालोक के विजन वन में नहीं। जीवन का यह सात्विक सौन्दर्य एक दिन स्वयं जीवन बन जाता है तब मनुष्य व्यक्ति का नहीं वरन् व्यक्तित्व का उपासक हो जाता है और उसका प्रेम संसार की सीमा से ऊपर उठकर व्यापक और दिव्य बन जाता है—

> इस पथ का उद्देश्य नहीं है, शान्त भवन में टिक रहना,
> किन्तु पहुँचना उस सीमा तक जिसके आगे राह नहीं।

कामायनी में मनु और श्रद्धा के प्रेम को कवि इसी स्थिति में पहुँचा देता है। प्रसाद के प्रेम की चरम परिणति साधनात्मक वैराग्य या विश्वप्रेम और करुणा में होती है, यही कवि के सन्देश का सार है। विचार-प्रधान कवि होने के कारण जीवन के गहनतम विचारों का विश्लेषण उन्होंने अपने काव्यों में किया है। प्रसाद को सम्भवतः इसीलिये हम कभी कवि-दार्शनिक तथा कभी दार्शनिक-कवि के रूप में पाते हैं। कामायनी में काव्य और दर्शन के संयोग का परम विकास मिलता है। काव्य की भावुकता से वे

जीवन की रागात्मक वृत्तियों को चेतना देते हैं और दर्शन से जीवन के राग विरागों को समझने और सुलझाने की शक्ति। इनकी कल्पनामयी भावुकता इतनी सजग तथा रंगमय है और उनका दर्शन इतना साधनाशील है कि उनका काव्य सहज ही एक सुन्दर स्पष्टता पा लेता है, जो मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मता से परिपुष्ट और भावना की भव्यता से भास्वर रहता है। "प्रसाद की कविता वर्णमय चित्र है जो स्वर्गीय भाव पूर्ण संगीत गाती है। अंधकार का आलोक से, जड़ का चेतन से और बाह्य जगत का अन्तर्जगत से मेल कराना उसका मुख्य उद्देश्य है।" कामायनी में यही तत्व कवि का विश्रामस्थल बना है—

> समरस थे जड़ या चेतन
> सुन्दर साकार बना था।

प्रसाद की इसी काव्य-दृष्टि के सहारे हम कामायनी का काव्यानन्द प्राप्त कर सकते हैं, अन्यथा नहीं।

—:०:—

कथावस्तु

प्रसाद जी ने कहानी, उपन्यास, नाटक, निबन्ध तथा आलोचना आदि सभी साहित्य-विषयों में स्वतंत्रता और अधिकार के साथ अपनी लेखनी का उपयोग किया है, किन्तु मूलतः वे कवि थे। जीवन में उन्हें आनन्द की उपासना का इष्ट था, इसी कारण वे शिव के उपासक थे। शिव की उपासना की मूल भावना ही उनके साहित्य का, विशेष कर काव्य का मेरुदंड है। शिव-तत्व की उपासना का साधक स्वभावतः अमृत और हलाहल में समरसता का अनुभव करता है, क्योंकि शिव का सारा शिवत्व ही इस बात पर आधारित है कि वे हलाहल पान के बाद भी अपने शिवत्व से च्युत नहीं हुये। प्रसाद के काव्य का आधार भी कुछ ऐसा ही है। आधुनिक जीवन की विषमताओं का विष उन्होंने पान किया था किन्तु वह उनकी साहित्य-प्रतिभा में मृत्यु का नहीं वरन मुक्ति का साधन बना, यही प्रसाद की महानता है। कुछ लोग प्रसाद को केवल आदर्शवादी रोमान्सप्रिय साहित्यिक मानते हैं, किन्तु कामायनी का आरम्भ सहज ही इस भ्रम का निवारण कर देता है, क्योंकि आदर्शवादी देव-सृष्टि के विनाश के बाद से ही कवि ने इस काव्य का प्रारम्भ किया है।

कामायनी की कथा मानवता के क्रमिक आदि-विकास का रूपक है। यह रूपक बहुत ही भावमय और मनोवैज्ञानिक है। आमुख में कवि ने कहा है—"जलप्लावन भारतीय इतिहास में एक ऐसी ही प्राचीन घटना है, जिसने मनु को देवों से विलक्षण, मानवों की एक भिन्न संस्कृति प्रतिष्ठित करने का अवसर दिया। देवगण के उच्छृंखल स्वभाव, निर्बाध आत्मतुष्टि में अन्तिम अध्याय लगा

और भाव अर्थात् श्रद्धा और मनन का समन्वय होकर प्राणी को एक नये युग की सूचना मिली। यह आख्यान इतना प्राचीन है कि इतिहास में रूपक का भी मिश्रण हो गया है। इसलिये मनु श्रद्धा और इड़ा इत्यादि अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुये, सांकेतिक अर्थ की भी अभिव्यक्ति करें तो मुझे कोई आपत्ति नहीं।" इस कथन से ज्ञात होता है कि कवि की आस्था कथा की ऐतिहासिकता पर उतनी नहीं है जितनी उसकी भावात्मकता पर है। प्रसाद ने कथा के सार रूप सत्य का प्रतिपादन किया है उसकी इतिवृत्तात्मक असारता को नहीं। कवि की इस भावमयता के बीच में कथा के पात्र बड़े ही सुन्दर संकेतों से पाठक को कथानक का आभास दे जाते हैं। पात्रों की अपनी उपस्थिति उतना ऐतिहासिक मूल्य नहीं रखती जितना मानवता के विकास की सैद्धान्तिक प्रतिपादना। पात्रों की प्रतीकात्मक स्थिति उनके स्थूल अस्तित्व से अधिक आकुल और प्रभावमयी है, सम्भवतः माधुर्य और मोदमयी भी।

कामायनी की कथा एक मनोवैज्ञानिक तथा दार्शनिक चेतना की ठोस और शाश्वत भावभूमि पर स्थापित है। यह काव्य रूपकात्मक है। इस प्रकार के रूपकात्मक काव्यों में कवि अपने प्राणों के प्रवेग से शाश्वत जीवन की गति को सहस्र संघर्षों के बीच से प्रवाहित करने की चेष्टा करता हुआ जीवन और जगत के अमर सत्य की सीमा को अपनी सम्वेदना से स्पर्श करना चाहता है। कामायनी के कवि ने भी यही किया है। प्रसाद ने अपनी मधुमयी प्रतिभा और एक सतत जागरूक भावुकता के सहयोग से इस काव्य-पद्धति को और भी सुगठित तथा मनोरम कर दिया है। जीवन के मधुरिमा-मय आनन्द-पक्ष की ओर स्वाभाविक आस्था होने के कारण कवि की रहस्यात्मक अनुभूतियों का स्वरूप रूपक-काव्य में अधिक स्पष्टता पाता है, क्योंकि भावना की इस मधुरता का उपासक कवि

कभी अपनी अतृप्त तथा अज्ञात आकांक्षाओं को नग्न रूप में, यथा-तथ्य रूप में या बहुत स्थूल रूप में अभिव्यञ्जित नहीं कर सकता। यही कारण है कि मिल्टन ने 'पैराडाइज लास्ट में', शेली ने 'प्रामेथ्यूज अनबाउन्ड' में, गेटे ने 'फास्ट' में रूपकात्मक शैली का ही अनुसरण किया है। उन लोगों ने अपने उन ग्रन्थों द्वारा चिरन्तन तथा अमर सत्य का आभास जिस कलात्मक रूप से प्रकट किया है, वह दूसरी प्रकार की शैलियों में सहज सम्भव नहीं है। कामायनी की भी यही विशेषता है। यह काव्य जीवन की सारी कठोर वास्तविकता तथा संघर्ष को अपनाते हुये आनन्द प्राप्ति की साधना का मार्ग निर्देश करने में अद्वितीय है। मानव जीवन की चरम सार्थकता शिव की प्राप्ति का यह बहुत ही सुगम सोपान है। काव्य का नायक मनु जीवन की कठिनाइयों और जीवन-व्यापी संघर्षों से उलझता हुआ आगे बढ़ता है। बीच में थकता है, क्लान्त होता है, दुखी होता है और फिर आगे बढ़ता है, किन्तु जब तक उसके मन में सहानुभूति, संतुलन और समन्वय की सम-दृष्टि के फल स्वरूप लोक-मंगल की कामना नहीं जागरित होती तब तक वह जीवन में शान्ति नहीं पाता। अन्त में अनुभूत तथ्यों की अधिकता से उसके भीतर सोई सात्विक चेतना जग पड़ती है और वह श्रद्धा नियोजित प्रकृतिस्थ बुद्धि के कारण शुद्ध और स्वस्थ हो जाता है। तभी उसका सारा असंतोष और संघर्ष तथा वैषम्य और द्वन्द मिट जाता है और वह अपनी साधना में सफल होता है। समत्व की इस सीमा में जीवन का सारा ध्वंसात्मक विद्रोह अपने आप शान्त हो जाता है। आकाश में शब्दों की भाँति आनन्द में सभी द्वन्द, सभी संघर्ष समाहित हो जाते हैं।

कामायनी का कवि मानवता के कल्याण के लिये शिव-तत्व की ओर बराबर संकेत करता है, साथ ही वह यह भी बताता है कि

इस यात्रा में श्रद्धा मानव की पथ प्रदर्शिका है। उसी की प्रेरणा और सम्वेदना जीवन की साधना में, सफलता में और आनन्द में एक निश्चित और नियमित योग है और संघर्ष-प्रस्फुटित इड़ा (बुद्धि) लोक-कल्याण की साधना में सहायक है। 'इस प्रकार कामायनी के मूल में जो आध्यात्मिक तत्व है वह शैव-तत्व-ज्ञान के आनन्द-तत्व के ऊपर खड़ा है इस तत्व-ज्ञान की विवेचना कवि की स्वतंत्र विवेचना है, मौलिक खोज है। इस पर बौद्ध-तत्व-ज्ञान की भी छाया है। शुद्ध निर्लेप चेतनता और आनन्द की प्राप्ति ही मानव का परम लक्ष्य है। समाज-निर्माण और लोक-कल्याण इस लक्ष्य की सिद्धि के बीच की मंजिलों के रूप में आते हैं। व्यक्ति और समाज में अविरोधी चेतनता का भाव रख कर ही सच्ची उन्नति सम्भव है। इस उन्नति में बुद्धि का अनिवार्य महत्व है, पर बुद्धि की शुद्धि श्रद्धा द्वारा सदैव होती रहनी चाहिये। अनियंत्रित बुद्धि, प्रमाद में परिवर्तित होकर परस्पर प्रतियोगिता और विनाश का कारण होती है। संस्कृत बुद्धि परस्पर सामञ्जस्य और सुख का कारण होती है। इस प्रकार श्रद्धा द्वारा भेद-बुद्धि के संस्कार से शुद्ध चेतनता और आनन्द की साधना ही परम लक्ष्य है और इसी का सुबोध और कलापूर्ण सन्देश कामायनी के कवि ने हमें दिया है। यह सन्देश आनन्द और शक्ति यानी पौरुष से पूर्ण है। इसमें निष्क्रियता नहीं, चिर चेतनता और कर्मण्यता है''। कामायनी की रचना मानव-मन की उस सनातन साधना से हुई है जो आदि काल से जीवन और जगत के अन्धकारमय अंश को विदीर्ण करके एक अमर सत्य और शाश्वत सुख की ओर अहर्निशि अविरत गति से उन्मुख है। इस काव्य में मन के, मानव के मनु के द्वन्द्वों तथा संघर्षों का जो चित्र कवि ने उपस्थित किया है वह त्रिकाल में मानवता का साथी है। किन्तु कवि-प्रतिभा की पूर्णता इस

कामायनी

विषमताओं के चित्रण में उतनी नहीं चरितार्थ होती जितनी इनके निवारण की गतिविधि वर्णन में। श्रद्धा और बुद्धि के सुमंगल सहयोग से मनुष्य अपने सुखों और अधिकारों की रक्षा करता हुआ विश्व में स्थायी कल्याण और आनन्द की स्थापना कर सकता है, यही कवि का साध्य है। श्रद्धा का यह मर्मोद्‌गार इसे और भी सजीवता तथा सार्थकता दे देता है, इसमें सन्देह नहीं।

हे सौम्य ! इड़ा का शुचि दुलार
हर लेगा तेरा व्यथा-भार
सब की समरसता कर प्रचार
मेरे सुत सुन माँ की पुकार !

मनु अर्थात् मनन या मन के साथ श्रद्धा अर्थात् हृदय की भावनात्मक सत्ता तथा इड़ा अर्थात् बुद्धि का द्वन्द्वात्मक विवेचन ही कामायनी के कवि का लक्ष्य है। मानव मन के दोनों पक्षों का निदर्शन तथा विवेचन, कवि का उद्देश्य है क्योंकि हृदय और मस्तिष्क, आस्था और विवेक, जब तक सद्‌भावना से मिलकर काम नहीं करते तब तक मन (मानव) का कल्याण नहीं हो सकता, यह निश्चय है। यद्यपि कामायनी की इस कथा का कहीं यथातथ्य रूप नहीं मिलता किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि मानव मनु की सन्तान है। कवि ने कथा की रोचकता तथा क्रमबद्धता के लिये कल्पना का भी सहारा लिया है, जिससे कथा की सार्थकता और भी बढ़ गई है। पात्रों का यह उपर्युक्त निरूपण कामायनी की कथा का मनोवैज्ञानिक तथा दार्शनिक पक्ष है। यदि ऐतिहासिक पक्ष से पात्रों का विवेचन किया जाय तो वह इस प्रकार होगा—

मनु—देव-वर्ग का अन्तिम प्रतिनिधि। जलप्लावन के बाद बचा हुआ एकमात्र आदि मानव।

श्रद्धा—जलप्लावन के बाद बची हुई नारी। इसका दूसरा नाम काम-कन्या भी है। आगे चलकर मनु की प्रणयिनी।
इड़ा—मनु की यज्ञ-पुत्री।
कुमार—मनु का पुत्र।
किलात और आकुलि—जलप्लावन के बाद बचे हुये असुरों के प्रतीक; मनु की शारीरिकता के सांकेतिक उपादान।

प्रलय की विभीषिका के बाद मनु देवताओं के श्मशान का साधन कर रहा है। अमरों की मृत्यु पर विचार कर रहा है क्योंकि वे अमर ऐसे थे जो मर गये। एकान्त चिंता से उसकी व्याकुलता बढ़ जाती है, जिसमें उसका पौरुष और भी अधिक भास्वर हो उठता है—

चिन्ता कातर बदन हो रहा,
पौरुष जिसमें ओत-प्रोत;
उधर उपेक्षामय यौवन का
बहता भीतर मधुमय स्रोत।

धीरे धीरे यौवन के उल्लास-प्रवाह में उसकी चिंता प्रवाहित हो जाती है और आशा का उदय होता है। इस आशा के उत्थान की चरम परिणति मनु से श्रद्धा की भेंट में होती है। श्रद्धा काम की कन्या है, अत्यन्त सुन्दर, मनोहर और कोमल। संगीत की शिक्षा के बाद उसके सौन्दर्य की सार्थकता और भी बढ़ गई है। मनु पूर्ण युवा था किन्तु नारी से अपरिचित पूर्ण ब्रह्मचारी। श्रद्धा अपना परिचय स्वयं मनु को देती है—

हृदय में क्या है नहीं अधीर
लालसा जीवन की निश्शेष?
कर रहा वंचित कहीं न त्याग
तुम्हें मन में धर सुन्दर वेश!

—कामायनी

इतना ही नहीं श्रद्धा मनु के भीतर सोये हुये भावों को जगाने के लिये यह भी कहती है—

यह नीड़ मनोहर कृतियों का
यह विश्व कर्म-रंगस्थल है।

इस वार्तालाप के पश्चात् स्वभावतः मनु श्रद्धा की ओर आकर्षित होता है और दोनों सहज समर्पण की साधना से साथ रहने लगते हैं—पति और पत्नी के रूप में। कुछ दिन सुख और शान्ति-पूर्वक दोनों साथ रहते हैं। कुमार के जन्म के पहिले ही अपने पूर्व-संस्कारों की स्मृति स्वरूप मनु का मन कुछ कुछ उदास होने लगता है और वह कर्म की ओर उन्मुख होता है। मन की इस स्थिति में मनु को हिंसापूर्ण यज्ञ करने की आसुरी प्रेरणा भी असुर-पुरोहित किलात और आकुलि से मिल जाती है यथा अग्नि को हवन। श्रद्धा इसे नहीं पसन्द करती। उसके मन में निरीह पशुओं के प्रति एक ममता है और है अपने भावी सन्तान के प्रति एक वात्सल्यमय आकर्षण। मनु इसे नहीं सहन कर पाता क्योंकि वह चाहता है कि श्रद्धा अपनी सभी भावनाओं की पूर्णता स्वयं उसी में देखे, अन्यत्र कहीं किसी दूसरे रूप में नहीं। विचारों का यह विरोध इतना बढ़ जाता है कि मनु श्रद्धा को हिमालय की उसी कंदरा में अकेले छोड़ कर अपनी शारीरिक सुख-साधना के लिये सारस्वत देश चला जाता है। वहाँ पहुँच कर मनु को काम की अभिशप्त स्वर लहरी सुनाई पड़ती है—

मनु तुम श्रद्धा को गये भूल ?
उस पूर्ण आत्म विश्वासमयी को उड़ा दिया था समझ तूल।
तुम भूल गये पुरुषत्व मोह में कुछ सत्ता है नारी की।
सम-रसता है संबंध बनी अधिकार और अधिकारी की।

असामञ्जस्यपूर्ण मनोदशा के पश्चात् प्रभात होता है और मनु

से इड़ा की भेंट होती है। इड़ा सारस्वत देश की सम्राज्ञी है मनु उसके यहाँ एक राज-प्रबन्धक के रूप में रहने लगता है। धीरे धीरे मनु वहाँ का सम्राट् ही बन जाता है किन्तु उसे संतोष नहीं होता उसकी अधिकार लालसा द्रौपदी के चीर की भाँति बढ़ती ही जाती है। वह इड़ा का भी अधिपति बनना चाहता है। उसकी इस अनुचित आकांक्षा और विलासमयी प्रवृत्ति का इड़ा विरोध करती है और मनु को छोड़ कर कहीं अन्यत्र चली जाना चाहती है। परन्तु मनु अपनी अधिकार-भावना की आकुलता में इड़ा को पकड़ कर बाँध रखना चाहता है, ऐसी स्थिति में संघर्ष स्वाभाविक हो उठता है। इड़ा की प्रजा मनु के इस दुर्व्यवहार से बिगड़ उठती है और एक विद्रोह का सूत्रपात होता है। मनु साहस के साथ अकेले सारी प्रजा का युद्ध में सामना करता है किन्तु अन्त में पराजित तथा आहत होकर वह मूर्च्छावस्था में धराशायी हो जाता है।

इधर श्रद्धा की स्थिति भी बड़ी भयानक हो जाती है, पति के बिना पत्नी की स्थिति ही क्या? अपनी इसी विपन्नावस्था में वह एक भयंकर स्वप्न देखती है, जिसके कारण उसका मन और भी अधिक आकुल-व्याकुल हो जाता है। अपने कुमार को साथ लेकर वह मनु की खोज में वहाँ से निकल पड़ती है और भटकती, खोजती उसी नगर में पहुँच जाती है जहाँ मनु मूर्च्छित पड़ा था। जैसे मनु की मूर्च्छा को एक चेतना मिल गई। श्रद्धा के स्नेहशील उपचार से मनु शीघ्र ही स्वस्थ हो जाता है और उसका मन क्षोभ तथा पश्चाताप से भर आता है। श्रद्धा के सुखमय सहवास की सारी मधुर स्मृतियाँ मनु के सामने उपस्थित हो जाती हैं और वह कहने लगता है—

> तुम अजस्र वर्षा सुहाग की
> और स्नेह की मधु रजनी,

कामायनी

चिर अतृप्ति जीवन यदि था
तो तुम उसमें संतोष बनो !

इसके साथ ही मनु श्रद्धा से उसे शीघ्र ही वहाँ से निकाल ले चलने की बात भी कहता है—

ले चल इस छाया के बाहर,
मुझको दे न यहाँ रहने !

किन्तु रात होते ही मनु श्रद्धा, इड़ा और कुमार को वहीं छोड़ कर फिर कहीं चुपचाप चला गया। इड़ा अपने को इन सब घटनाओं का कारण समझती है और क्षुभित होकर श्रद्धा से कहने लगती है—

अधिकार न सीमा में रहते
पावस निर्भर से वे बहते।
× × ×
सब पिये मत्त लालसा घूँट
मेरा साहस अब गया छूट।

इड़ा की बात का उत्तर श्रद्धा ने बहुत ही मार्मिक शब्दों में दिया है—

सिर चढ़ी रही पाया न हृदय
तू विकल कर रही है अभिनय :
सुख-दुख का मधुमय धूप-छाँह
तूने छोड़ी यह सरल राह।
× × ×
चिति का स्वरूप यह नित्य जगत
यह रूप बदलता है शत-शत,
कण-विरह मिलन मय नृत्य निरत
उल्लास पूर्ण आनन्द सतत।

इसके उपरान्त श्रद्धा अपने पुत्र कुमार को सांसारिक अनुभवों की प्राप्ति के लिये वहीं इड़ा के हाथों सौंप कर मनु को खोजने के लिये दूसरी बार निकल पड़ी। मनु शीघ्र ही सरस्वती तट पर एक गुफा में बैठा मिल गया। मनु उस समय ध्यान मग्न था श्रद्धा को देखते ही वह पुकार उठता है—

> यह क्या श्रद्धे ! बस तू ले चल,
> उन चरणों तक दे निज सम्बल;
> सब पाप पुण्य जिसमें जल-जल,
> पावन बन जाते हैं निर्मल,
> मिटते असत्य से ज्ञान लेश,
> समरस अखंड आनन्द वेश !

फिर जीवन की अनुरागमयी सन्ध्या-वेला में श्रद्धा आगे-आगे और मनु पीछे-पीछे शुभ्र शिखर हिमालय में स्थित मानसरोवर की ओर चलने लगे। मनु अपनी स्वाभाविक विवशता से अब भी कभी-कभी विचलित हो जाता था किन्तु श्रद्धा के सात्विक साथ ने उसे सँभाल रखा था। चलते-चलते वे ऊँचाई की एक ऐसी सीमा में पहुँच जाते हैं जहाँ वे अपने को एक निराधार सी स्थिति में पाते हैं। वहाँ पहुँच कर मनु को विश्व-जीवन के तीन आधार-बिन्दु नीचे की ओर दिखलाई पड़ते हैं, जो इच्छा, ज्ञान और कर्म के प्रतीक हैं। पूछने पर श्रद्धा ने बताया कि ये तीनों आज कल के जीवन में अलग-अलग हो गये हैं और विश्व-जीवन की आधुनिक विडम्बना का यही सब से बड़ा कारण है। श्रद्धा, मनु को एक-एक का रहस्य समझाती है।

पहले इच्छा की मनोरम भूमि का निदर्शन श्रद्धा ने किया—

> शब्द, स्पर्श, रस, रूप, गंध की
> पारदर्शिनी सुघड़ पुतलियाँ,

कामायनी

चारों ओर नृत्य करती ज्यों
रूपवती रंगीन तितलियाँ।

इच्छा की इसी मनोमय भूमि पर विश्व राग-रंजित चेतनता की उपासना करता है।

फिर कर्म-भूमि की तमोमयी प्रवृत्ति का निदर्शन करती है—

यहाँ सतत संघर्ष विफलता
कोलाहल का यहाँ राज है;
अंधकार में दौड़ लग रही
मतवाला यह सब समाज है।

आकांक्षाओं की कोमल कलिकाओं का यहीं पतझार होता है।

सब से अन्त में ज्ञान-भूमि की ओर संकेत करते हुये श्रद्धा ने बताया—

अस्ति नास्ति का भेद निरंकुश
करते ये अणु तर्क युक्ति से;
ये निस्संग किन्तु कर लेते
कुछ सम्बन्ध विधान मुक्ति से।

× × ×

यहाँ अछूत रहा जीवन रस
छूओ मत संचित होने दो;
बस इतना ही भाग तुम्हारा
तृषा ! मृषा, वंचित होने दो।

इस ज्ञान-भूमि में सदैव बुद्धि का तर्क जाल बुना जाता है। यहाँ केवल मोक्ष-प्राप्त की प्राप्ति होती है किन्तु तृप्ति, आनन्द का यहाँ अभाव रहता है। शाश्वत तृषा और मृषा ही इसके आवश्यक उपादान हैं।

जीवन के इन तीनों आधार-बिन्दुओं की पृथकता पर कटाक्ष करती हुई श्रद्धा हँस पड़ती है और उसकी हँसी की आलोक किरण से ये तीनों शीघ्र एक में मिल जाते हैं—

> ये संबद्ध हुये फिर सहसा
> आग उठी थी ज्वाला जिनमें।

इन तीनों के मिलन से संसार में एक दिव्य-स्वर-लहरी का संचार हो जाता है और मनु अनाहत नाद में तन्मय हो जाता है—

> स्वप्न स्वाप जागरण भस्म हो
> इच्छा क्रिया ज्ञान मिल लय थे,
> दिव्य अनाहत पर निनाद में
> श्रद्धायुत मनु बस तन्मय थे !

यही शुद्ध तन्मयता मनु के जीवन की परम सिद्धि है। इसके अनन्तर आनन्द-भूमि की प्रतिष्ठा होती है। इसी शुभ अवसर पर इड़ा भी कुमार को साथ लिये हुये वहाँ पहुँचती है और देखती है कि सनातन पुरुष अपनी आदि शक्ति प्रकृति के साथ मिल कर आनन्द कर रहा है—

> चिर मिलित प्रकृति से पुलकित
> वह चेतन पुरुष पुरातन ;
> निज शक्ति तरंगायित था
> आनंद-अंबु-निधि शोभन !

यह सब देखकर इड़ा, श्रद्धा के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करती है और अपनी भूलों पर पश्चात्ताप करती है। यहीं कुमार और इड़ा का मानवता की परम्परा चलाने के लिये सहयोग होता है और मनु कैलास की ओर दिखाकर उस आनन्द-भूमि का वर्णन करता है जहाँ पाप-ताप का कोई अस्तित्व ही नहीं रहता। वहाँ तो—

अपने दुख सुख से पुलकित
यह मूर्त विश्व सचराचर,
चिति का विराट वपु मंगल
यह सत्य सतत चिर सुन्दर!

× × ×

सब भेद भाव भुलवा कर
दुख सुख को दृश्य बनाता;
मानव कह रे! "यह मैं हूँ"
यह विश्व नीड़ बन जाता!

इस प्रकार प्राकृतिक सुखों की छाया में कामायनी की कथा अपना अन्तिम विश्राम पाती है। कथा का दार्शनिक आधार यह है कि श्रद्धा या हृदय की कोमल वृत्ति की चेतनता से ही मनुष्य संसार का कल्याण करता हुआ स्वयं आनन्द का अनुभव कर सकता है। इड़ा या बौद्धिक वृत्ति सदैव जीवन को तर्क के जाल में फँसाये रहती है और उसे तृप्ति का उपभोग नहीं करने देती। वास्तव में इन दोनों वृत्तियों की समन्वयात्मक साधना से ही सुख का अनुभव और आनन्द की प्राप्ति होती है। नीचे के रूपकमय कथनाक से इस समन्वय की स्पष्टता पर पूर्ण प्रकाश पड़ता है—कहीं पर एक स्वस्थ और बहुत ही शक्तिशाली अंधा और एक निर्बल और क्षीण लँगड़ा रहता था। आँखों के अभाव से अंधा और पैरों के अभाव से लँगड़ा जीवन के कार्यों में असफल और असमर्थ था। उनका इधर उधर चलना फिरना भी सम्भव नहीं था। एक दिन किसी साधू ने उनसे कहा—तुम दोनों मिलकर एक बहुत ही सुन्दर व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा कर सकते हो। अंधे को चाहिये कि वह अपने सबल कंधों पर निर्बल किन्तु सनेत्र लँगड़े को बिठा ले और इस प्रकार दोनों मिल कर जीवन यात्रा करें। अंधे के पैर और लँगड़े के नेत्र क्रम से गति

और दिशा देते जायेंगे और फिर कोई भी कार्य करना कठिन नहीं होगा। ठीक यही स्थिति हृदय और मस्तिष्क की है। इन दोनों के समन्वय से ही विश्व के कार्य-व्यापार में सफलता सम्भव है। अकेला न तो हृदय ही कुछ कर सकता और न मस्तिष्क ही। जीवन-यात्रा में इन दोनों का सामंजस्य सुकृति और असामंजस्य विकृति का रूप धारण करता है, इतिहास में इसके अनेकों उदाहरण मिलते हैं। कामायनी की कथा की यही मूल चेतना है।

———

काव्य-विस्तार

दैवी सृष्टि के विछोह के बाद मनु चिंताशील हो जाता है, कवि ने इन्हीं चिन्तात्मक अनुभूतियों को लेकर काव्य का आरम्भ किया है। कवि ने जीवन की एक रहस्यात्मक प्रवृत्ति के साथ चरम विकास की जो प्रतिभा दिखलाई है उसका श्रीगणेश चिंता जनित असंतोष से होता है। जिस प्रकार मानवी सृष्टि के आदि में चारों ओर जल है—

नीचे जल था ऊपर हिम था
एक तरल था एक सघन,
एक तत्व की ही प्रधानता
कहो उसे जड़ या चेतन।

उसी प्रकार मानवता के आदि में चिंता है। उस समय प्रकृति भी कुछ उदास और नीरव सी है क्योंकि वह मानव मनोभावों की अनुगामिनी है। प्रसाद ने प्रकृति को कभी जड़ और निर्जीव स्वरूप में नहीं अंकित किया। वे प्रकृति के भीतर अपने प्राणों के प्रवेग का स्पन्दन अनुभव करते थे। उनकी प्रकृति यद्यपि सुन्दर है किन्तु वह विराट भी है। कवि के मनोनुकूल विश्व सुन्दरी प्रकृति अपना स्वरूप तथा शृङ्गार बनाती रहती है यथा प्रेमिका प्रेमी के लिये। प्रसाद की शुद्ध प्रकृति भी मानव प्रकृति का रूप धारण कर लेती है क्योंकि प्रकृति मानव मनोभावों की अनुगामिनी तथा प्रेरक दोनों है—

दूर दूर तक विस्तृत था हिम
स्तब्ध उसी के हृदय समान
नीरवता सी शिला चरण से
टकराता फिरता पवमान

काव्य नायक मनु की चिंता का प्रकृति पर यह कितना आकुल आरोप है ? प्रकृति की इस स्थिति ने मनु के मन को निश्चय ही और भी विपन्न कर दिया होगा तभी तो वह चिंता से प्रश्न करता है—

ओ चिंता की पहिली रेखा
अरी विश्व-वन की व्याली,
ज्वाला मुखी स्फोट की भीषण
प्रथम कम्प की मतवाली

अरी व्याधि की सूत्र धारिणी
अरी आधि मधुमय अभिशाप,
हृदय गगन में धूम केतु सी
पुण्य सृष्टि में सुन्दर पाप।

चिंताशील मनु को इससे संतोष नहीं होता है और वह अपनी आकुलता में अपनी चेतना से ही प्रश्न करता है—

हे अभाव की चपल बालिके
री ललाट की खल लेखा,
हरी भरी सी दौड़ धूप, ओ
जल-माया की चल रेखा।

मनन करावेगी तू कितना ?
उस निश्चित जाति का जीव,
अमर मरेगा क्या ! तू कितनी
गहरी डाल रही है नींव।

मनु का यह प्रश्न आज भी मानव के सामने ज्यों का त्यों उपस्थित है। इसका समुचित उत्तर आज का वैज्ञानिक युग भी नहीं दे पाता। विकास वादियों का मत है कि चिंता तथा विकलता

के इसी छलनामय छोर को पकड़ कर मनुष्य जीवन की गति पाता है। प्रसाद ने इसका उत्तर बड़े ही कलात्मक ढंग से दिया है। अतीत चिंतन का फल स्वभावतः निराशा ही होना चाहिये किन्तु मनु को आशा का आभास मिलता है। सांख्य के पुरुष की भाँति वह अपने ही में लीन होकर भविष्य के उज्ज्वल स्वप्न देखने लगता है, जैसे चरम चिन्ता की प्रतिक्रिया ही आशा हो। थका हुआ मन प्रायः सुखद कल्पनाओं की ओट में विश्राम करने लगता है। आशा का उत्थान अरुणोदय के साथ साथ बहुत ही मार्मिक है, नवकिरणों के साथ जैसे नवजीवन का सन्देश आ गया हो।

उषा सुनहले तीर बरसती
जय लक्ष्मी सी उदित हुई,
उधर पराजित काल रात्रि भी
जल में अन्तर्निहित हुई।

प्रभात का सौन्दर्य अवलोकनीय है—

नव कोमल आलोक बिखरता
हिम संसृति पर भर अनुराग,
सित सरोज पर क्रीड़ा करता
जैसे मधुमय पिंग पराग

प्रकृति की चेतनामयी मनोरमता मनु को एक विस्मय भरे कौतूहल का प्रश्रय देती है और यह कौतूहल एक रहस्यात्मक विश्वास में बदल जाता है। मनु की धारणा हो जाती है कि विश्व के इन परिवर्तनों के बीच में किसी अपरिवर्तनशील शक्ति का हाथ है—

हे अनन्त रमणीय कौन तुम ?
यह मैं कैसे कह सकता।
× × ×

हे विराट ! हे विश्वदेव
तुम कुछ हो ऐसा होता भान,
मंद गंभीर धीर स्वर संयुत
यही कर रहा सागर गान !

विश्वास की दृढ़ता में मनु अपने विचारों का आरोप सागर के धीर गंभीर गान में करता है किन्तु यह गान सागर का नहीं मनु का अपना है। इसी अव्यक्त अनन्त शक्ति के विश्वास के परों पर साधक साधना के लोक में विचरण करता है। उसे एक प्रकार की शक्ति मिलती है, आशा का आभास होता है और व्यक्ति का अहं उभर सा आता है—

मैं हूँ, यह वरदान सदृश क्यों
लगा गूंजने कानों में,
मैं भी कहने लगा मैं रहूँ
शाश्वत नभ के गानों में।

आशा के साथ इस आत्म-चेतना की अनुभूति ही से मनु को जीवन के प्रति ममता होने लगती है—

तो फिर क्या मैं जिऊँ और भी।
जीकर क्या करना होगा ?

जीवन की जटिलता का अनुमान आदि मानव मनु को भी उसी तरह होता है जैसे आज के मानव को। फिर भी मानव अपने अहं की ममता नहीं छोड़ पाता और विश्व-कर्म में अपने को व्यस्त कर देता है। मनु को भी पाकयज्ञ की प्रेरणा होती है किन्तु उसका मन एकाकीपन से ऊबने सा लगता है। मनुष्य का सहज भावुक हृदय अकेलेपन से जितना शीघ्र थकता है उतना किसी अन्य कार्य से नहीं, क्योंकि मानव मन की भावनायें तथा मनोविकार

१-कामायनी

अधिक दिनों तक अपने ही में लीन नहीं रह सकते हैं। अपने भीतर की सुख-दुख की कथा दूसरों से कहने में एक सुख होता है, संतोष मिलता है और मन का भार हलका पड़ जाता है, यथा बरसने के बाद बादल।

देवों की संस्कृत के विनाश ने मनु को सहानुभूति की शिक्षा दे दिया था। वह देख चुका था कि अपने आप में विश्व की सारी महत्ता थोप लेने से व्यक्ति का किस प्रकार विध्वंस हो जाता है। इसीलिये वह दूसरे के प्रति समवेदना तथा प्रेम की उदारता दिखलाने के लिये लालायित हो उठता है और अपनी भावना के अनुरूप सोचने लगता है—

> और सोच कर अपने मन में
> जैसे हम हैं बचे हुये;
> क्या आश्चर्य और कोई हो
> *जीवन लीला* रचे हुये।

किसी दूसरे के अस्तित्व की कल्पना के साथ मनु के हृदय में माधुर्य, प्रेम और सहवास की भावना जगती है और वह एक आकाँक्षा के साथ उसकी प्राप्ति के प्रयत्न में प्रवृत्त होता है—

> अग्नि होत्र अवशिष्ट अन्न कुछ
> कहीं दूर रख आते थे,
> होगा इससे तृप्त अपरचित
> समझ, सहज सुख पाते थे।

सम्भवतः 'कब तक और अकेले कह दो' की आकुलता को इस कार्य से कुछ सान्त्वना मिली हो; किन्तु व्यक्ति भावनाओं में नहीं जी सकता, जीवन तो सूक्ष्मता तथा स्थूलता का संघात है। अस्तु मनु किसी दूसरे की अस्तित्व भावना से आगे बढ़कर उसके

हे विराट हे विश्वदेव
तुम कुछ हो ऐसा होता भान,
मंद गंभीर धीर स्वर संयुत
यही कर रहा सागर गान !

विश्वास की दृढ़ता में मनु अपने विचारों का आरोप सागर के धीर गंभीर गान में करता है किन्तु यह गान सागर का नहीं मनु का अपना है। इसी अव्यक्त अनन्त शक्ति के विश्वास के पंखों पर साधक साधना के लोक में विचरण करता है। इससे एक प्रकार की शक्ति मिलती है, आशा का आभास होता है और व्यक्ति का अहं उभर सा आता है—

मैं हूँ, यह वरदान सदृश क्यों
लगा गूँजने कानों में,
मैं भी कहने लगा मैं रहूँ
शाश्वत नभ के गानों में।

आशा के साथ इस आत्म-चेतना की अनुभूति ही से मनु को जीवन के प्रति ममता होने लगती है—

तो फिर क्या मैं जिऊँ और भी।
जीकर क्या करना होगा?

जीवन की जटिलता का अनुमान आदि मानव मनु को भी उसी तरह होता है जैसे आज के मानव को। फिर भी मानव अपने अहं की ममता नहीं छोड़ पाता और विश्व-कर्म में अपने को व्यस्त कर देता है। मनु को भी पाकयज्ञ की प्रेरणा होती है किन्तु उनका मन एकाकीपन से ऊबने सा लगता है। मनुष्य का सहज भावुक हृदय अकेलेपन से जितना शीघ्र थकता है उतना किसी अन्य कार्य से नहीं, क्योंकि मानव मन की भावनायें तथा मनोविकार

१ कामायनी:

बन जाती है। उस समय उसकी मूकता ही उसकी सब से बड़ी अभिव्यक्ति है, अनेक बार मनुष्य चुप रह कर भी बहुत कुछ कह जाता है—

सुना यह मनु ने मधु गुंजार
मधुकरी का सा जब सानन्द

तब देखा कि श्रद्धा चुपचाप खड़ी—

किये मुख नीचा कमल समान
प्रथम कवि का ज्यों सुन्दर छंद।

प्रत्यक्ष का अप्रत्यक्ष के साथ यह रूपक अंग्रेजी कवि शैली का स्मरण दिखलाता है। प्रसाद ने श्रद्धा के स्वरूप का वर्णन किया है, वह बहुत सी सुन्दर और सात्विक है—

नील परिधान बीच सुकुमार
खुल रहा मृदुल अधखुला अंग,
खिला हो ज्यों बिजली का फूल
मेघ-वन बीच गुलाबी रंग।

× × ×

घिर रहे थे घुँघराले बाल
अंस-अवलम्बित मुख के पास
नील-घन-शावक से सुकुमार
सुधा भरने को विधु के पास।

और उस मुख पर वह मुसक्यान
रक्त किसलय पर ले विश्राम
अरुण की एक किरण अम्लान
अधिक अलसाई हो अभिराम

इस प्रकार श्रद्धा के सौन्दर्य को कवि अमूर्त आधारों से बाँध कर हमारे सामने इस प्रकार उपस्थित करता है कि हम उसकी

प्रत्यक्षीकरण की धुन में रमने लगता है। इस प्रकार श्रद्धा के उदय के लिये प्रसाद को क्रमिक मनोवैज्ञानिक दशाओं का अनुसरण करना पड़ा है जो बहुत स्वाभाविक है—

कौतूहल, विश्वास, आशा, जीवन के प्रति ममता, सहानुभूति और आकाँक्षा के पथ से चलकर मनु इस स्थिति में पहुँचता है। इसके पश्चात् मनु का जीवन एक अप्रत्याशित परिवर्तन की ओर मुड़ता है, जो मनु तथा कथा को आगे बढ़ाने का स्वाभाविक साधन है। यह स्थल प्रेम का प्राण और शृङ्गार की साँस लेकर अपना स्वरूप बनाता है, किन्तु इसमें कहीं भी असंयम और रीतिकालीन शृङ्गार रूढ़ि की स्थापना नहीं है, क्योंकि यहाँ पर आदि मानव आशावान् से श्रद्धावान् होने जा रहा है न कि विलासिता के कीचड़ में फँसने ? यह आदि मानव का आदि मानवी से आदि अनुराग है। कवि ने इस मिलन का वातावरण इतना आकर्षक बना दिया है कि उसकी यह स्थिति मात्र ही मानव मन को रस पूर्ण करने के लिये पर्याप्त है। शृङ्गार की सरसता में मनोविज्ञान की गम्भीरता उसी प्रकार छिपी है जैसे मेघ की सजलता में उसका गम्भीर मंद्र घोष।

श्रद्धा ने जब अपरिचित मनु को प्रथमबार देखा तो स्वभावतः वह कुछ लज्जित सी हो गई, किन्तु अपनी उत्सुकता के आवेश में प्रश्न कर ही बैठी—

कौन तुम संसृति-जलनिधि-तीर
तरंगों से फेंकी मणि एक,
कर रहे निर्जन का चुपचाप
प्रभा की धारा से अभिषेक।

इसके बाद वह चुप हो जाती है। स्नेहमय संकोच का प्रभाव ऐसा ही होता है, वह स्वयं शील संकोच और सौन्दर्य की प्रतिमा थी

कामायनी

बन जाती है। उस समय उसकी मूकता ही उसकी सब से बड़ी अभिव्यक्ति है, अनेक बार मनुष्य चुप रह कर भी बहुत कुछ कह जाता है—

सुना यह मनु ने मधु गुंजार
मधुकरी का सा जब सानन्द
तब देखा कि श्रद्धा चुपचाप खड़ी—
किये मुख नीचा कमल समान
प्रथम कवि का ज्यों सुन्दर छंद।

प्रत्यक्ष का अप्रत्यक्ष के साथ यह रूपक अंग्रेजी कवि शैली का स्मरण दिखलाता है। प्रसाद ने श्रद्धा के स्वरूप का वर्णन किया है, वह बहुत ही सुन्दर और सात्विक है—

नील परिधान बीच सुकुमार
खुल रहा मृदुल अधखुला अंग,
खिला हो ज्यों बिजली का फूल
मेघ-वन बीच गुलाबी रंग।
× × ×
घिर रहे थे घुँघराले बाल
अंस-अवलम्बित मुख के पास
नील-घन-शावक से सुकुमार
सुधा भरने को विधु के पास।
और उस मुख पर वह मुसक्यान
रक्त किसलय पर ले विश्राम
अरुण की एक किरण अम्लान
अधिक अलसाई हो अभिराम

इस प्रकार श्रद्धा के सौन्दर्य को कवि अमूर्त आधारों से बाँध कर हमारे सामने इस प्रकार उपस्थित करता है कि हम उसकी

दिव्यता और अलौकिकता पर सहज ही विश्वास करने लगते हैं। मनु ने भी श्रद्धा के प्रश्न का उत्तर जिस ढंग से दिया है, वह सर्वथा अनोखा और आकर्षक है—

शैल निर्झर न बना हतभाग्य
गल नहीं सका जो कि हिमखंड,
दौड़कर मिला न जलनिधि अंक
आह वैसा ही हूँ पाखंड।

इस परिचय में मनु की कितनी ग्लानि भरी है। वह अपने अकेलेपन से थक गया है, उसका जीवन उदास और आकुल है, अपने ही भीतर के संघर्ष से शिथिल है। ऐसी अवस्था में उसका उत्तर भी ठीक है। मनु का मनुष्यत्व अपने विकास की पूर्णता के लिये नारीत्व की शरण खोज रहा था। इस बात की साकार संभावना में मनु ने जो कुछ कहा वह बहुत ही मार्मिक है। उस आदि काल से लेकर अब तक मानव नारी की सरल सहानुभूति जगाने के लिये ऐसी ही युक्तियों का उपयोग करता आया है। नारी भी इसके बदले में उसे अपनी दया, ममता देती चली आई है अन्यथा मानव की बहुत सी इच्छायें कभी अपनी साकारता न पा सकतीं। मनु ने जीवन में अपनी आकांक्षाओं की विफलता का प्रकाश श्रद्धा के सामने इस प्रकार किया है—

किन्तु जीवन कितना निरुपाय
लिया है देख नहीं संदेह,
निराशा है जिसका परिणाम
सफलता का वह कल्पित गेह!

इस निराशा भरी वाणी से श्रद्धा ने मनु की सारी विकलता समझ ली और उसपर अपने शीतल आश्वासन का लेप लगा दिया।

कामायनी

कर दिया जो मनुष्य के मनुष्यत्व को एक अलौकिक आभा से आलोकित कर देता है। नारी के ऐसे मधुर वचनों से, आशापूर्ण आश्वासनों से, मानव मन को जो शान्ति मिलती है वह सहज ही बोधगम्य है। श्रद्धा ने मनु का ध्यान इसी ओर आकर्षित किया—

अरे तुम इतने हुये अधीर !
हार बैठे जीवन का दाँव
जीतते जिसको मरकर वीर ?

श्रद्धा ने जब देखा कि मनु अभी ज्यों का त्यों विस्मृत है, तब उसने स्पष्ट शब्दों में अपना मन्तव्य मनु के सामने रख दिया—

अकेले तुम कैसे असहाय
यजन कर सकते ? तुच्छ विचार !
तपस्वी आकर्षण से हीन
कर सके नहीं आत्म-विस्तार !

दब रहे हो अपने ही बोझ
खोजते भी न कहीं अवलम्ब ;
तुम्हारा सहचर बनकर क्या न
उऋण होऊँ मैं बिना विलम्ब !

इससे अधिक श्रद्धा क्या कह सकती थी। श्रद्धा के इस शीघ्र समर्पण के भीतर उसकी ममतामयी महिमा छिपी है। श्रद्धा, जैसे मनु की विकलता और अधिक नहीं देख सकती थी, उसका सारा वात्सल्य फूट पड़ा और उसने मनु की विकलता दूर करने के लिये आत्म-उत्सर्ग, आत्म-समर्पण कर दिया। अपनी तृप्ति के लिये नहीं, मनु की स्थिरता के लिये। हाँ तो श्रद्धा के इस परिचय के बाद मनु और श्रद्धा में प्रेम हो जाना भी स्वाभाविक है। इस प्रेम की व्यञ्जना में प्रसाद जी एक यथार्थवादी की भाँति मानव-हृदय की भाव-भूमि पर खड़े हैं। मानव का मानवी के प्रति आकर्षण और प्यार सहज

स्वाभाविक है। नारी के प्रति मनुष्य की यह आकुलता आदि काल से अब तक समान रूप से चली आती है। नारी भी समर्पण की साथी है। आदर्श तथा आध्यात्म की ओट में कहीं भी कवि ने स्नेह की स्वाभाविकता पर आघात नहीं पहुँचाया, सिद्धान्तों के लिये भावनाओं की हत्या नहीं की, प्रेम का यही आदर्श कवि ने अपनी समस्त कृतियों में दिखाया है। प्रेम की इस परिचर्या से मनु को संतोष होता है, श्रद्धा उसके हृदय को परिप्लुत कर देती है। यदि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी देखा जाय तो श्रद्धा एक ऐसी वृत्ति है जो मनुष्य की निराश स्थिति में भी उसे सान्त्वना, उत्साह, जीवन और आधार देने में समर्थ है, क्योंकि श्रद्धा में आत्म-समर्पण है और है दया, माया, ममता, लज्जा, मधुरिमा तथा निश्छल विश्वास। श्रद्धा की इस समर्थ भावना के साथ अभिलाषा उसी प्रकार लगी है जिस प्रकार वस्तु के पीछे छाया।

प्रेम का दर्शन मनुष्य के हृदय में होता है। वह मनुष्य की स्नेहशील सुन्दर प्रवृत्तियों का सम्मिलित स्वरूप एक सुमन है, किन्तु ज्योंही वह हृदय के बाहर आता है उसके विकृत होने का भय भी होने लगता है। संसारी वातावरण के स्पर्श से जैसे वह स्वयं अपनी हार्दिकता छोड़ कर संसारी बन जाता है। संसारी के लिये शारीरिकता उतनी ही आवश्यक है जितनी पानी के लिये तरलता। यहीं पहुँच कर प्रेम वासना की मलिन चादर ओढ़ लेता है। मनु का हृदय भी अपने प्रेम को बाहर फेंक कर उसे वासना का रूप दे देता है। इस प्रेम को वासना में परिवर्तित करने के लिये कवि ने रतिराग की भी सहायता ली है, क्योंकि वह समझता है कि रूप का आकर्षण और कुछ न होकर रति का प्रतिबिम्ब है—

> जो आकर्षण बन हँसती थी
> रति थी अनादि वासना वही,

कामायनी

अव्यक्त प्रकृति उन्मीलन के
अन्तर में उसकी चाह रही !

इस भावना की सांसों में रतिराज की सहायता से वासना के प्राणों में एक स्पन्दन सा होने लगा, मनु महाराज का हृदय मत्त हो उठा और उसे विश्व के कण-कण में श्रद्धा (नारी) के सौन्दर्य की आभा दिखाई पड़ने लगी। मनु अपनी मस्ती से पागल होकर प्रकृति की सौन्दर्यमयी विभूतियों तथा स्थितियों में किसी चिर परिचित सी वस्तु को खोजने लगा। यहाँ पर कवि ने अपनी रहस्यात्मक अनुभूतियों का बहुत ही सुन्दर उद्घाटन किया है। मनु में एक अव्यक्त व्यापक सौन्दर्य की चेतना जग पड़ती है, इसी प्रेम के कारण मनुष्य एक से अनेकत्व को तथा अनेकत्व से एकत्व को प्राप्त करता आया है। तभी तो मनु अपने आप से प्रश्न करता है—

मैं देख रहा हूँ जो कुछ भी
यह सब क्या छाया उलझन है,
सुन्दरता के इस पर्दे में
क्या अन्य धरा कोई धन है !

विश्व में व्याप्त सौन्दर्य की साकारता की विकलता रहस्यवाद की सीमा को स्पर्श करती है, क्योंकि कोरी सौन्दर्यानुभूति भावना की तीव्रता बढ़ाने में उतनी सफल नहीं होती जितनी उसकी साकारता।

मनु की इन्द्रियाँ आराध्य से मिलने के लिये जागरित हो उठती हैं, हृदय की गति और प्रवृत्ति बढ़ जाती है, एक आन्दोलन मन को उत्साहित कर देता है, क्योंकि प्रेम की सीमा वही है जहाँ आत्मा अपनी प्रेयसी से मिलने के लिये नाच उठे, खिल उठे—

मेरी अक्षय निधि तुम क्या हो
पहचान सकूँगा क्या न तुम्हें ?

उलझन प्राणों के धागों की
सुलझन का समझूँ मान तुम्हें !

आगे चलकर मनु यह तक कहता है कि—

कलियों में छुपके-छुपके से
कोई मधु-धारा घोल रहा,
इस नीरवता के पर्दे में
जैसे कोई कुछ बोल रहा।

प्रेम की भावना में अपने प्रिय का आभास प्रत्येक वस्तु में पाना उतना स्वाभाविक नहीं जितना परम्परागत है। प्रेम की इस महायात्रा में प्रायः प्रत्येक प्रेमी को अपने प्रेम में किसी अव्यक्त शक्ति के सौन्दर्य का आभास मिलता है किन्तु उसकी वासना उसे ओझिल कर देती है, यथा दूर से आते हुये प्रकाश को पास की सघन अमराई। प्रसाद जी ने मनु को मन के उन्माद की सहायता से भावनाओं को जिस रहस्य-भूमि में भटकाया है वह प्रकृति और पुरुष के सनातन आकर्षण का सुन्दर साहित्यिक निदर्शन है। इसके पश्चात्—

यह लीला जिसकी विकस चली
वह मूल शक्ति थी प्रेम-कला।

यहाँ तक पहुँच कर मनु प्राकृतिक सौन्दर्य से बिलकुल विमुख हो जाता है और मानवीय मांसलता की भावना उसके मन में उदित हो जाती है। उसकी पलकों में एक स्वप्न नृत्य करने लगता है, वह काम की दूरागत ध्वनि सुनता है—

उसके पाने की इच्छा हो
तो योग्य बनो कहती-कहती,

वातावर्ण

वह ध्वनि चुपचाप हुई सहसा
जैसे मुरली हो चुप रहती!

इस ध्वनि की स्वर-लहरी से मनु कुछ सजग हुआ तब—

मनु आँख खोल कर पूछ रहे
पथ कौन वहाँ पहुँचाता है?
उस ज्योतिमयी को देव कहो
कैसे कोई नर पाता है?

पर इसका उत्तर कौन देता? कवि ने मनु को बहुत ही मार्मिक स्थिति में ला दिया है जिसने उसे प्रेम का दासत्व स्वीकार करने के लिये बाध्य कर दिया। उसका मन वासना की तरंगिणी में बह जाता है। कवि ने वासना की यह विह्वलता काव्य में दिखाकर उसे मानव-स्वभाव के अधिक समीप कर दिया है। वासना-रंजित मनु की इच्छा प्रत्येक मानव की अपनी निजी भावना सी बन जाती है। भावना की इसी अतिशयता में मनु अपने हृदय के भाव श्रद्धा के सामने खोल कर रख देता है—

वासना की मधुर छाया! स्वास्थ्य बल विश्राम।
हृदय की सौन्दर्य प्रतिमा कौन तुम छविधाम।
× × ×
कमना की किरन का जिसमें मिला हो ओज।
कौन हो तुम इसी भूले हृदय की चिर खोज।
कुन्द मन्दिर सी हँसी ज्यों खुली सुषमा बाँट।
क्यों न वैसे ही खुला यह हृदय रुद्ध कपाट।

यह है आदि मानव का प्रेम-प्रदर्शन। यहाँ भी कवि यथार्थ का पोषक है, क्योंकि उसने मनु से श्रद्धा के लिये 'वासना की मधुर छाया' कहलाया है। सम्भवतः आज का पुरुष इतना साहसी नहीं।

उलझन प्राणों के धागों की
सुलझन का समझूँ मान तुम्हें !

आगे चलकर मनु यह तक कहता है कि—

श्रुतियों में चुपके-चुपके से
कोई मधु-धारा घोल रहा,
इस नीरवता के पर्दे में
जैसे कोई कुछ बोल रहा।

प्रेम की भावना में अपने प्रिय का आभास प्रत्येक वस्तु में पाना उतना स्वाभाविक नहीं जितना परम्परागत है। प्रेम की इस महा-यात्रा में प्रायः प्रत्येक प्रेमी को अपने प्रेम में किसी अव्यक्त शक्ति के सौन्दर्य का आभास मिलता है किन्तु उसकी वासना उसे ओझिल कर देती है, यथा दूर से आते हुये प्रकाश को पास की सघन अमराई। प्रसाद जी ने मनु को मन के उन्माद की सहायता से भावनाओं को जिस रहस्य-भूमि में भटकाया है वह प्रकृति और पुरुष के सनातन आकर्षण का सुन्दर साहित्यिक निदर्शन है। इसके पश्चात्—

यह लीला जिसकी विकस चली
वह मूल शक्ति थी प्रेम-कला।

यहाँ तक पहुँच कर मनु प्राकृतिक सौन्दर्य से बिलकुल विमुग्ध हो जाता है और मानवीय माँसलता की कामना उसके मन में उदित हो जाती है। उसकी पलकों में एक स्वप्न नृत्य करने लगता है, वह काम की दूरागत ध्वनि सुनता है—

उसके पाने की इच्छा से
हो योग्य बनो करती-कहती,

वह ध्वनि चुपचाप हुई सहसा
जैसे मुरली हो चुप रहती!

इस ध्वनि की स्वर-लहरी से मनु कुछ सजग हुआ तब—

मनु आँख खोल कर पूछ रहे
पथ कौन वहाँ पहुँचाता है?
उस ज्योतिमयी को देव कहो
कैसे कोई नर पाता है?

पर इसका उत्तर कौन देता? कवि ने मनु को बहुत ही मार्मिक स्थिति में ला दिया है जिसने उसे प्रेम का दासत्व स्वीकार करने के लिये बाध्य कर दिया। उसका मन वासना की तरंगिणी में बह जाता है। कवि ने वासना की यह विह्वलता काव्य में दिखाकर उसे मानव-स्वभाव के अधिक समीप कर दिया है। वासना-रंजित मनु की इच्छा प्रत्येक मानव की अपनी निजी भावना सी बन जाती है। भावना की इसी अतिशयता में मनु अपने हृदय के भाव श्रद्धा के सामने खोल कर रख देता है—

वासना की मधुर छाया! स्वास्थ्य बल विश्राम।
हृदय की सौन्दर्य प्रतिमा कौन तुम छविधाम।
× × ×
कमना की किरन का जिसमें मिला हो ओज।
कौन हो तुम इसी भूले हृदय की चिर खोज।
कुन्द मन्दिर सी हँसी ज्यों खुली सुषमा बाँट।
क्यों न वैसे ही खुला यह हृदय रुद्ध कपाट।

यह है आदि मानव का प्रेम-प्रदर्शन। यहाँ भी कवि यथार्थ का पोषक है, क्योंकि उसने मनु से श्रद्धा के लिये 'वासना की मधुर छाया' कहलाया है। सम्भवतः आज का पुरुष इतना साहसी नहीं।

आज का पुरुष अपने वासनोचित प्रेम को भी शाब्दिक पवित्रता के मायावी आवरण से इस प्रकार ढकने का प्रयत्न करेगा कि उसका अस्तित्व कृत्रिमता के सिवाय कुछ न रह जाय। किन्तु मनु ने साफ-साफ अपने मन की बात कह दी। उसका स्नेह-समर्पण तब और भी अधिक स्वाभाविक और सशक्त हो जाता है जब वह कहता है कि—

> आज क्यों सन्देह होता रूठने का व्यर्थ
> क्यों मनाना चाहता सा बन रहा असमर्थ
> धमनियों में वेदना सा रक्त का संचार
> हृदय में है काँपती धड़कन लिये लघुभार।

अन्त में मनु अपनी सारी सांकेतिकता छोड़ कर स्पष्ट शब्दों में कर देता है—

> आज लेलो चेतना का यह समर्पण दान
> विश्व रानी, सुन्दरी, नारी-जगत की मान।

मनु ने अपने आवेग में वासना की छाया को जो उपाधियाँ दी हैं वे सब व्यंग सी लगती हैं, अन्यथा यदि पुरुष शान्त हृदय से नारी को इस महत्ता को स्वीकार करे तो स्त्री जाति की यह दयनीय दशा न रहे। पुरुष का स्वभाव ही ऐसा बना है कि वह अपने स्वार्थ-साधन के लिये ऐसे शब्दों, कार्यों का उपयोग करेगा जिनकी स्मृति भी उसे कार्य-सिद्धि के पश्चात् न रह जावेगी। आधुनिक प्रेम-पत्रों की उत्सुकता तथा भाषा इस बात के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। मनु के समर्पण के पश्चात् कवि ने श्रद्धा की स्थिति और भाव भंगिमा से जो स्वीकृति दिखाई है वह बहुत ही स्वाभाविक और कलापूर्ण है। प्रसाद जी ने श्रद्धा तथा लज्जा के समन्वय से सौन्दर्य और स्वीकृति का जो सहयोग कराया है, वह अद्वितीय है—

गिर रही पलकें झुकी थी नासिका की नोक
भ्रू लता थी कान तक चढ़ती रही वे रोक
स्पर्श करने लगी लज्जा ललित कर्ण कपोल
खिला पुलक कदंब सा था भरा गद्गद् बोल।

इस प्रकार लज्जा ने श्रद्धा की स्वीकृति को एक रंगमयता दे दिया। उस समय से बराबर नारी पुरुष की वासना का शिकार बनी चली आ रही है। श्रद्धा ने कहा भी था—

क्या समर्पण आज का हे देव।
बनेगा चिर-बंध नारी हृदय हेतु सदैव?
आह मैं दुर्बल, कहो क्या ले सकूँगी दान
वह, जिसे उपयोग करने में विकल हों प्रान।

श्रद्धा की ये पंक्तियाँ शायद आज तक नारी की दुर्बलता का कारण बनी हैं। कवि ने इस दुर्बलता का बहुत ही व्यंगमय चित्रण किया है। पता नहीं नारी अपनी भावुकता को दुर्बलता क्यों समझती है। उसकी वासना भी पुरुष की भाँति दर्शन मात्र से ही नहीं जागरित होती, उसके लिये प्रत्येक नारी को परीक्षण का समय और सोचने की सुविधा चाहिये। लज्जा तो शृङ्गार है दुर्बलता नहीं। फिर नारी अपने को दुर्बल क्यों समझती है, पता नहीं चलता। काव्य परम्परा में शृङ्गार को अधिक रसमय तथा रंगमय बनाने के लिये कवियों ने नारी की इस लज्जामय भावुकता का समावेश किया है। प्रसाद जी ने भी यही किया। किन्तु कवि का आधेय शृङ्गार की सार्थकता का उतना नहीं ज्ञात होता जितना नारी की स्वभाव-दुर्बलता का। लज्जा श्रद्धा को अपना परिचय इस प्रकार देती है कि उसकी साकार प्रतिमा पाठकों के सामने खड़ी हो जाती है—

एकपरिचय

आज भी प्रत्येक मानव के मनोवैज्ञानिक विकास का साथी है। विश्व जीवन के रंगमंच पर मनुष्य को जीवन के साथ यही खेल खेलना पड़ता है। सारी सृष्टि के विकास तथा प्रसार की यही सीढ़ियाँ हैं। वासना के रस-विलास के बाद मनु के भीतर एक प्रतिहिंसा की भावना जाग्रत होती है। यह वृत्ति, कर्म की प्रस्तावना है और कर्म सदा से अधिकार की इच्छा रखता है। अधिकार की इस इच्छा का परिणाम होता है संघर्ष, असंतोष और श्रद्धा से विरक्ति तथा ईर्षा की उद्भावना। जो मनु के जीवन से प्रत्यक्ष होता है और तब से बराबर प्रत्येक मानव को इसी का शिकार बनना पड़ता है। अहंकार और एकान्त स्वार्थ की भावना में जब मनु डूब जाता है तब श्रद्धा कहती है—

यह एकान्त स्वार्थ भीषण है
अपना नाश करेगा।

इसी प्रकार जीव-हत्या के विषय में भी श्रद्धा मनु को अपनी स्वाभाविक कोमलता के अनुरूप समझाती है—

अपनी रक्षा करने में जो
चल जाय तुम्हारा कहीं अस्त्र
वह तो कुछ समझ सकी हूँ मैं
हिंसक से रक्षा करे शस्त्र

पर जो निरीह जी कर भी कुछ
उपकारी होने में समर्थ,
वे क्यों न जियें, उपयोगी बन
इसका मैं समझ सकी न अर्थ।

किन्तु मनु क्यों सुनने लगा। उलटा कहने लगा

यह चिर प्रशांत मंगल की क्यों
अभिलाषा इतनी रही जाग !

कामायनी

यह संचित क्यों हो रहा स्नेह
किस पर इतनी हो सानुराग ?

मनु का मन नहीं चाहता कि श्रद्धा किसी अन्य प्राणी के प्रति किसी प्रकार की ममता अथवा स्नेह रखे। वह चाहता है कि—

काली आँखों की तारा में
मैं देखूँ अपना चित्र धन्य,
मेरा मानस का मुकुर रहे
प्रतिबिम्बित तुमसे ही अनन्य।

अतएव जब श्रद्धा अपने गर्भ स्थित शिशु की भविष्य कल्पना में डूब जाती है और मनु से कहने लगती है—

देखो यह तो बन गया नीड़;
पर इसमें कलरव करने को
आकुल न हो रही अभी भीड़

तुम दूर चले जाते हो जब
तब लेकर तकली यहाँ बैठ,
मैं उसे फिराती रहती हूँ
अपनी निर्जनता बीच बैठ।

× × ×

सूना न रहेगा यह मेरा
लघु विश्व कभी जब रहोगे न
मैं उसके लिये बिछाऊँगी
फूलों के रस का मृदुल फेन
झूले पर उसे झुलाऊँगी
दुलरा कर लूंगी बदन चूम,
मेरी छाती से लिपटा इस
घाटी में लेगा सहज घूम।

अपनी मीठी रसना से वह
बोलेगा ऐसे मधुर बोल
मेरी पीड़ा पर छिड़केगा
जो कुसुम-धूलि मकरंद घोल
मेरी आँखों का सब पानी
तब बन जायेगा अमृत स्निग्ध,
उन निर्विकार नयनों में जब
देखूंगी अपना चित्र मुग्ध।

ऊपर की पंक्तियों में वात्सल्य रस का कितना सुन्दर परिपाक है। नारी की माँ बनने की आकाँक्षा इन पंक्तियों में मप्राण सी हो उठी है। श्रद्धा अपनी वर्तमान स्थिति के विस्तरण का साधन अपने शिशु रूप में पा लेने के लिये कितनी लालायित है. किन्तु लोलुप पुरुष (मनु) इसे भी नहीं सहन कर पाता। नारी के हृतात्मक स्नेह की वह कल्पना नहीं कर सकता, क्योंकि स्वार्थ और वासना की परवशता के कारण वह नारी का केवल प्रेयसी वाला रूप ही स्वीकार करता है, माता वाला नहीं। यही मनुष्य की पराजय और विफलता की पूर्ण परिचय है। इसका भी कारण है, मानव को निर्माण की उतनी चिंता नहीं रहती जितनी खेल की, किन्तु नारी निर्माण की आदि शक्ति है। पत्नी के रूप में वह शृङ्गार रस की नायिका मात्र है, किन्तु माँ के रूप में वह सब रसों की पूर्णता है। काव्य की दृष्टि से भी यह स्थल बहुत ही उपयुक्त है, क्योंकि शृङ्गार की पूर्णता वात्सल्य के सहयोग से ही प्रभावशाली हो पाती है। शृङ्गार के संयोग पक्ष के बाद इस वात्सल्य की वही स्थिति है जो सोने में सुगन्ध की। जो भी हो मनु को इससे विषाद ही हुआ और वह कहने लगा कि—

कामायनी

यह जलन नहीं सह सकता मैं
चाहिए मुझे मेरा ममत्व।
× × ×
यह द्वैत, अरे यह द्विविधा तो
है प्रेम बाँटने का प्रकार,
भिक्षुक मैं ना, यह कभी नहीं
मैं लौटा लूंगा निज विचार !
× × ×
लो चला आज मैं छोड़ यहीं
संचित सम्वेदन भार पुंज,
मुझको काँटे ही मिले धन्य
हो सफल तुम्हें ही कुसुम कुंज।

अपनी अहमन्यता की ज्वाला लिये मनु श्रद्धा को छोड़कर अज्ञात दिशा की ओर चला गया। श्रद्धा विरह में विलीन हो गई। मिलन के बाद विरह का आवश्यक अध्याय प्रसाद जी ने बड़ी ही निपुणता से खोला है। विरह की इस स्थिति में मनोविकारों तथा समवेदनाओं के जो चित्र कवि ने उपस्थित किये हैं, वे कवि की प्रतिभा के प्रोज्ज्वल प्रमाण हैं। श्रद्धा के समान सरल-हृदया नारी की विरह-विह्वलता में कवि स्वयं इतना विकल हो जाता है कि—

एक मात्र वेदना विजन की झिल्ली की झंकार नहीं,
जगती की अस्पष्ट उपेक्षा एक कसक साकार नहीं।
हरित कुंज की छाया भर थी वसुधा आलिंगन करती,
वह छोटी सी विरह नदी थी जिसका अब था पार नहीं!

यद्यपि इन पंक्तियों में काव्य परम्परा का प्रयोग है किन्तु असंयमित नहीं। विरह का गम्भीर रूप कहीं भी प्रसाद के काव्य

में तिरोहित नहीं होने पाया, बराबर उसका आभास मिलता जाता है, यथा जल में तेल बिन्दु का। वियोगी जीवन में स्मृति का विशेष महत्व है। रीति तथा मनोविज्ञान दोनों में इसका समान मूल्य है—

> बिजली सी स्मृति चमक उठी तब
> लगे जभी तम घन घिरने !

इसी स्मरण के आवेग में श्रद्धा पगली की भाँति मंदाकिनी से पूछने लगती है। विरह की ज्वाला में चेतन अचेतन का ध्यान भूल जाना सहज है—

> जीवन में सुख अधिक या कि दुख
> मंदाकिनि कुछ बोलोगी,
> नभ में नखत अधिक
> सागर में या बुद्बुद् हैं गिन दोगी।
> प्रतिबिम्बित है तारा तुममें
> सिन्धु मिलन को जाती हो,
> या दोनों प्रतिबिम्ब एक के
> इस रहस्य को खोलोगी !
>
> × × ×
>
> विरल डालियों के निकुंज सब
> ले दुख के निश्वास रहे,
> उस स्मृति का समीर चलता है
> मिलन कथा फिर कौन कहे !

इस प्रकार संयोग शृङ्गार तथा वात्सल्य के अद्वितीय चित्रों के साथ प्रसाद ने विप्रलम्भ शृङ्गार के भी अनोखे चित्र साहित्य को दिये हैं। प्रसाद का विरह एकाकी नहीं बहुत व्यापक और सर्वकालीन है। श्रद्धा को सारा संसार उसी भावना से ओत प्रोत मालूम

- कामायनी

होता है, प्रकृति तो मानव भावनाओं की प्रतिक्रिया मात्र है। वियोग में आश्वासन की भी प्रथा है, यथा पीड़ा में सेंक। श्रद्धा को स्वयं आत्म-तोष करना पड़ता है, क्योंकि उसके पास और कोई था भी तो नहीं। वह अपने आप कहने और समझने लगती है—

अरे मधुर हैं कष्ट पूर्ण भी
जीवन की बीतीं घड़ियाँ,
जब निस्सम्बल होकर कोई
जोड़ रहा बिखरी कड़ियाँ।

परिस्थितियों के अनुसार मनोभावों के उभारने में प्रसाद को बहुत ही सफलता मिली है। विरह की तीव्रता तब और बढ़ जाती है जब श्रद्धा कहती है—

वंचित जीवन बना समर्पण
यह अभिमान अकिंचन का
कभी दे दिया था कुछ मैंने
ऐसा अब अनुमान रहा।

श्रद्धा ने समझ लिया कि आलिंगन एक पाश था और स्मित चपला थी और मन का मधुर विश्वास केवल पगले मन का मोह था। किन्तु इस आत्म-संतोष की प्रवंचना से उसे धैर्य कहाँ?

उसकी व्यथा उस समय और अधिक बढ़ जाती है जब वह देखती है कि उसके पड़ोस के सभी घर, वेणु के शब्द से गूँज रहे हैं। दुख की अवस्था में, मानवीय स्वभाव की यह विशेषता है कि वह किसी दूसरे के सुख को नहीं सहन कर पाता, यह एक अनुभूत सत्य है। प्रसाद जी ने इसका चित्रण इस प्रकार किया है—

वन-बालाओं के निकुंज सब भरे वेणु के मधु स्वर से
लौट चुके थे आने वाले सुन पुकार अपने घर से।

का सारा लेखा जोखा विज्ञान और तर्क के बल पर करना चाहता है और इसी में सुख की कल्पना करता है, उसी प्रकार मनु भी श्रद्धा को छोड़कर इड़ा को अपनाकर सुख की साँस लेना चाहता था। आज के युग की भाँति उसे भी बदले में अशान्ति और ग्लानि मिली। इड़ा की प्रजा विद्रोह कर देती है और मनु युद्ध में पराजित होकर पृथ्वी में गिर पड़ता है। जीवन की परिस्थितियों पर विजय की इच्छा से युद्ध करने की प्रवृत्ति मनु की साहसिकता का भी परिचय देती है, इसमें सन्देह नहीं। जब मनु इस प्रकार आहत पड़ा था। तब श्रद्धा कुमार के साथ उसे खोजती हुई यहाँ पहुँचती है—

अरे बता दो मुझे दयाकर
कहाँ प्रवासी है मेरा
उसी बावले के मिलने को
डाल रही हूँ मैं फेरा।

श्रद्धा की उस अवस्था का बहुत ही करुण चित्र कवि ने खींचा है—

शिथिल शरीर वसन विशृंखल
कबरी अधिक अधीर खुली,
छिन्न पत्र मकरंद लुटी सी
ज्यों मुरझाई हुई कली!

नव कोमल अवलम्ब साथ में
वय किशोर उँगली पकड़े,
चला आ रहा मौन धैर्य सा
अपनी माता को जकड़े!

इस प्रकार श्रद्धा वहाँ पहुँच कर इड़ा से मिलती है और उसके साथ उस स्थान पर पहुँचती है जहाँ मनु घायल पड़ा था—

और वही मनु ! घायल सचमुच
तो क्या सच्चा स्वप्न रहा ?
आह प्राण प्रिय यह क्या ! तुम यों !
घुला हृदय बन नीर बहा !

मनु, श्रद्धा के उपचार से शीघ्र स्वस्थ हो जाता है और उसके साथ में फिर से उसे शान्ति मिलती है। इस पुनर्मिलन के संकेत से कवि ने संसार के सामने एक ऐसा समन्वय सूत्र उपस्थित किया है, जो मानव कल्याण का एक मात्र उपाय है। आज के बुद्धिवादी वैज्ञानिक युग के लिये प्रसाद जी का यह सन्देश सर्वथा अभिनन्दनीय है। बुद्धि और श्रद्धा का सुमंगल सहयोग। केवल हृदय के भावुक तथा करुणा-कोमल एवं श्रद्धामय विश्वास पूर्ण भावों से विश्व का गतिशील चक्र प्रचलित नहीं किया जा सकता, और न केवल तर्क पूर्ण बुद्धि ही विश्व में स्थायी शान्ति स्थापित कर सकती। इन दोनों का समुचित सहयोग ही विश्व-कल्याण का बीज मंत्र है। कामायनी का कवि इस रूपक काव्य में यही दिखाना चाहता है। इस सुन्दर सन्देश के अतिरिक्त कवि का उद्देश्य संसार के सामने नारी की महत्ता प्रकट करना भी है, क्योंकि कामायनी की श्रद्धा केवल नारी का कामिनी वाला रूप ही नहीं रह जाती वरन् वह कल्याणमयी माँ के स्वरूप से भी अधिक ऊँचे उठकर स्नेहशीला देवी बन जाती है। कवि की ये पंक्तियाँ नारी की महिमा की प्रतीक हैं—

नारी तुम केवल श्रद्धा हो
विश्वास रजत नग पदतल में,
पीयूष स्रोत सी बहा करो
जीवन के सुन्दर समतल में

मनु भी श्रद्धा से कहता है कि—

तुम देवि ! आह कितनी उदार
यह मातृमूर्ति है निर्विकार।
हे सर्व मंगले तुम महती
सब का दुख अपने पर सहती
कल्याणमयी वाणी कहती
तुम क्षमा निलय में हो रहती !

इस प्रकार यह काव्य कवि की सात्विक साधना और जीवन की मार्मिक अनुभूति के साथ एक सुख के वातावरण में समाप्त होता है। इस काव्य के पात्रों के द्वन्द्व मानव मात्र के अपने द्वन्द्व हैं, और उसके निराकरण का उपाय मानवता की रक्षा का उपाय है। सारा काव्य एक महान आदर्श के भाव से रचा गया है। शाश्वत सत्य के आधार पर कवि ने एक ऐसे रूपक का निर्माण किया है जो आधुनिक सभ्यता की बर्बरता तथा इसके भ्रामक संघर्षों की व्यर्थता का यथातथ्य चित्रण करता हुआ इसके ऊपर उठकर विश्व-कल्याण की भावना का पथ निर्देश करता है, जहाँ पहुँच कर—

संगीत मनोहर उठता
मुरली बजती जीवन की,
संकेत कामना बन कर
बतलाती दिशा मिलन की !

क्योंकि श्रद्धा के संकेत से, उसकी स्मित रेखा के आलोक में इच्छा, ज्ञान और कर्म का सामञ्जस्य हो जाता है, जिसके फलस्वरूप मानव चेतना शाश्वत आनन्द में मग्न हो जाती है। मानव जीवन के अस्तित्व की यही परम सफलता है, फिर तो—

प्रति फलित हुई सब आँखें
उस प्रेम ज्योति विमला में,

कामायनी

सब पहचाने से लगते
अपनी ही एक कला से।
समरस थे जड़ या चेतन
सुन्दर साकार बना था,
चेतनता एक विलसती
आनंद अखंड घना था।

शाश्वत मानवता के विकास तथा उसकी कल्याण-भावना का यह चित्राँकन संसार साहित्य की अमर निधि है। जीवन के इस मौलिक अन्वेषण तथा विश्लेषण के लिये कामायनी अमर है। चिंता, आशा, इर्ष्या, क्षमा, दर्शन आदि सार्वकालिक एवं सार्वदेशिक भावनाओं के इस एकत्रीकरण के कारण कामायनी नूतन प्रभात की भाँति नित नवीन आभा से आलोकित रहेगी, इसमें किसी को सन्देह नहीं हो सकता।

अन्त में यह कह देना अनुचित न होगा कि कामायनी अपनी सारी महत्ता के साथ जन साधारण की वस्तु नहीं हो सकती। अँग्रेजी कवियों में मिल्टन की भाँति प्रसाद जी साहित्यिकों की ही तुष्टि कर सकेंगे, अपनी प्रतिभा और विचारों की गम्भीरता के कारण, अपनी रहस्यात्मक अनुभूतियों की तीव्रता में प्रसाद जी ने कभी-कभी नारी को पुरुष की भाँति सम्बोधन किया है, यह प्रवृत्ति आँसू तथा कामायनी दोनों में पाई जाती है। मैं तो इसे प्रसाद की भावनाओं की उड़ान की थकान कहूँगा। जो भी हो प्रसाद हमारे साहित्य के अमर कलाकार और एक सफल स्रष्टा हैं। कामायनी लिखकर प्रसाद जी इस बात को सिद्ध कर गये कि छायावाद तथा रहस्यवाद की काव्य-धारा में भी प्रबंध तथा महाकाव्य लिखे जा सकते हैं। इस काव्य-धारा की छायात्मकता पर भटकने वाले सज्जनों को कामायनी एक ऐसे ठोस धरातल पर खड़ा कर देती

विश्व के विभिन्न रूपों के साथ मानवीय हृदय का सामञ्जस्य करना ही काव्य की चरम सार्थकता तथा सफलता है। मानव का हृदय अनेक भावों का आगर है और इन भावों की चरितार्थता तभी सम्भव है जब संसार की विभिन्न वस्तुओं के साथ इनको सम्बन्धित किया जाय। इस प्रकार काव्य के दो प्रमुख क्षेत्र हो जाते हैं—मानव-जीवन और प्रकृति। हिन्दी कवियों ने मानव-जीवन को ही अपने काव्य का सहयोग दिया है, प्रकृति को कम। यद्यपि प्रकृति में मानवीय भावों को जाग्रत एवं परिपुष्ट करने की क्षमता कम नहीं है तथापि कवियों ने इस ओर ध्यान कम दिया है। प्राकृतिक दृश्यों तथा तथ्यों में मनुष्य को अपनी ओर आकृष्ट करने की बहुत ही स्नेहशील शक्ति है। लहलहाते हुये हरे भरे खेत, उपवन में मुस्काती कलियाँ और हँसते हुये फूल, आकाश के रंगीन बादल, दुग्ध-धवल प्रवाहित नदियाँ और झरने, चंचल चिड़ियों के चहचहे आदि प्राकृतिक उपादान किसका मन नहीं मुग्ध कर लेते? काव्य के माध्यम से ये चित्र और भी प्राणमय हो उठते हैं और उनकी मर्मस्पर्शिता और भी तीव्र हो जाती है।

विज्ञान तथा कृत्रिमता के उत्तरोत्तर विकास ने आज के मानव को प्रकृति से बहुत दूर कर दिया है। उसके व्यस्त जीवन में यांत्रिकता के आधिक्य ने उसकी हार्दिकता को एकदम ढँक सा लिया है। वह खिलखिलाती हुई चाँदनी और अनुराग से रंजित प्रभात कालीन बालारुण को आज उतना अपने समीप नहीं पाता जितना आदि मानव। उसके क्लान्त जीवन को स्वच्छ वायु उतना विश्राम नहीं दे पाती जितना उसे बिजली के पंखे से मिलता है। आशय यह कि आज का मानव प्रकृति से दूर और अपरचित सा है।

यही कारण है कि आधुनिक साहित्य में भी प्रकृति का अभाव सा है। हमारे संस्कृत काव्यों में प्रकृति के बहुत ही सुन्दर और सजीव चित्र एवं वर्णन मिलते हैं। वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति आदि कवियों ने प्रकृति के सभी रूपों तथा व्यापारों के साथ अपने हृदय का स्वाभाविक सम्बन्ध स्थापित किया है। हिन्दी काव्य में वैसा विशद प्राकृतिक चित्रण नहीं हो सका। हिन्दी कविता के पिछले युग में प्रकृति का उपयोग अधिकतर उपमान रूप में ही हुआ है। कुछ कवियों ने भावों के उद्दीपन-रूप में भी प्रकृति के दृश्यों का वर्णन किया है, किन्तु प्रकृति को शुद्ध वर्णनीय विषय बहुत कम कवियों ने माना है। आधुनिक काल में कवियों का ध्यान इस ओर झुक गया है और प्राकृतिक रूपों के वर्णन भी होने लगे हैं। इस प्रकार के वर्णन प्रायः दो प्रकार के होते हैं—प्रकृति के अनुरंजनकारी दृश्यों का वर्णन तथा प्रकृति के कोमल सुकुमार रूप का चित्रण। आज की हिन्दी कविता में प्रकृति के संश्लिष्ट और सांग चित्र भी मिलते हैं, क्योंकि कवि लोग अब यह समझने लगे हैं कि प्रकृति मानवता की सनातन सहचरी है और उसका मानवीय जीवन में बहुत महत्व तथा प्रभाव है। पुरुष (मानव) और प्रकृति का सहयोग विश्व कल्याण में सहायक है।

प्रसाद जी जीवन तथा काव्य में प्रेम तत्व के उपासक हैं और यही प्रेम तत्व उन्हें प्रकृति की ओर भी उन्मुख करता है। प्रकृति की महत्ता की ओर संकेत करने वाले आधुनिक कवियों में सम्भवतः प्रसाद जी अपना विशेष महत्व रखते हैं—

> नील नभ में शोभित विस्तार,
> प्रकृति है सुन्दर परम उदार।
> नर हृदय परिमित, पूरित स्वार्थ
> बात जँचती कुछ नहीं यथार्थ!

कामायनी

-प्रसाद, प्रकृति के प्रति प्रारम्भ से ही एक आकर्षण रखते हुये चले हैं। 'चित्राधार' से ही उनकी प्रकृति के प्रति ममता का परिचय मिलने लगता है। प्रसाद जी ने प्रकृति का निर्जीव चित्रण सम्भवतः नहीं किया, उन्होंने उसमें सदैव अपने प्राणों की भाँति एक सजीवता तथा स्पन्दनशीलता देखने का प्रयास किया है। प्रसाद प्रमुखतः मानवीय आकाँक्षाओं तथा भावनाओं के कवि हैं, अस्तु शेष प्रकृति उनके लिये मानवीय व्यापारों तथा मनोविकारों की अपेक्षा रखती है। प्रसाद की चेतन प्रकृति भी मानवीय भावों की भूमि पर ही प्रतिस्थापित है। आधुनिक मानव की प्रकृति पर वैज्ञानिक विजय का प्रतिपादन प्रसाद ने अपने काव्य के माध्यम से किया है, अन्तर केवल इतना है कि वैज्ञानिक केवल उपयोगिता का उपासक होता है और कवि सुन्दरता, मनोहरता तथा रमणीयता का। प्रसाद ने प्रकृति को सदैव मानवीय भावनाओं की अनुरूपता में देखा है, साथ ही उसका अपने काव्य की शृङ्गारिकता के लिये भी उपयोग किया है। कामायनी की प्रकृति भी मानवीय भावनाओं की अनुगामिनी है और कभी-कभी प्रेरक भी।

चिंता-रत मनु जब भीगे नयनों से प्रलय प्रवाह देख रहा था तब प्रकृति में भी मनु के हृदय की स्तब्धता का प्रसाद जी आरोप करते हैं—

> दूर दूर तक विस्तृत था हिम
> स्तब्ध उसी के हृदय समान।
> × × ×
> उसी तपस्वी से लम्बे, थे
> देवदारू दो चार खड़े।

मनु की चिंता जब और भी बढ़ जाती है तब प्रकृति का रूप भी उसी के अनुसार अधिक आकुल हो जाता है। इस स्थिति में

प्रसाद जी की प्रकृति जो स्वभावतः सुन्दर है विशाल और विराट बन जाती है—

उधर गरजती सिंधु लहरियाँ
कुटिल काल के जालों सी,
चली आ रही फेन उगलती
फन फैलाये व्यालों सी।

× × ×

लहरें व्योम चूमती उठतीं
चपलायें असंख्य नचतीं,
गरल जलद की खड़ी झड़ी में
बूँदें निज संसृति रचतीं।

चपलायें उस जलधि विश्व में
स्वयं चमत्कृत होती थीं,
ज्यों विराट बाड़व ज्वालायें
खंड खंड हो रोती थीं।

आशा सर्ग में प्रकृति का हँसता हुआ चित्र प्रसाद जी ने खींचा है। उनका यह हासोज्ज्वल प्रकृति चित्रण जैसे मनु की आशा का अग्रदूत हो—

उषा सुनहले तीर बरसती
जय-लक्ष्मी सी उदित हुई,
उधर पराजित कालरात्रि भी
जल में अन्तर्निहित हुई।

सारी प्रकृति खिल उठी और उससे मधु तथा माधुरी का अजस्र स्रोत बह निकला, जो मानव को सुख देने की सहज क्षमता रखता है—

वह विवर्ण मुख त्रस्त प्रकृति का
आज लगा हँसने फिर से,
वर्षा बीती हुआ सृष्टि में।
शरद विकास नये फिर से।
नव कोमल आलोक बिखरता
हिम संसृति पर भर अनुराग,
सित सरोज पर क्रीड़ा करता
जैसे मधुमय पिंग पराग।

प्रकृति की इसी हँसी में जैसे कवि के शब्द स्वयं हँसने लगते हैं—निरीक्षण की निपुणता से प्रसाद का प्रकृति चित्रण बहुत ही स्पष्ट और प्रभावमय हुआ है—

नेत्र निमीलन करती मानो
प्रकृति प्रबुद्ध लगी होने,
जलधि लहरियों की अँगड़ाई
बार बार जाती सोने
सिन्धु-सेज पर धरा बधू अब,
तनिक संकुचित बैठी थी,
प्रलय निशा की हलचल स्मृति में
मान किये सी ऐंठी थी।

कभी-कभी प्रसाद की रहस्यभावना का सहयोग प्रकृति के साथ हुआ है। मनु प्रकृति की सुषमा तथा विराटता से मुग्ध होकर कहता है—

हे विराट ! हे विश्वदेव ! तुम
कुछ हो ऐसा होता भान,
मद गभीर धीर स्वर संयुत
यही कर रहा सागर गान।

व्यापक विराट चेतना के पश्चात् मनु प्राकृतिक वस्तुओं में व्यक्तित्व का आरोप करता हुआ सभी में एक प्राणों का प्रसंग देखता है—

अचल हिमालय का शोभनतम
लता कलित शुचि सानु शरीर,
निद्रा में सुख स्वप्न देखता
जैसे पुलकित हुआ अधीर।

×

संध्या घन माला की सुन्दर
ओढ़े रंग बिरंगी छींट,
गगन चुंबिनी शैल श्रेणियाँ
पहने हुये तुषार किरीट

इन पंक्तियों से पता चलता है कि प्रसाद की प्रकृति विषयक अनुभूति तथा प्रतिभा कितनी प्रखर है। प्रसाद की प्रकृति किसी तरह दीन-हीन नहीं परन्तु वैभवमयी है। श्रद्धा के रूप वर्णन में कवि ने प्रकृति के उपादानों का अद्वितीय एकत्रीकरण किया है—

नील परिधान बीच सुकुमार
खुल रहा मृदुल अधखुला अंग,
खिला हो ज्यों बिजली का फूल
मेघ-वन बीच गुलाबी रंग।

×

घिर रहे थे घुँघराले बाल
अंस अवलंबित मुख के पास,
नील घन शावक से सुकुमार
सुधा भरने को विधु के पास।

कामायनी

और उस मुख पर वह मुसक्यान।
रक्त किसलय पर ले विश्राम,
अरुण की एक किरण अम्लान।
अधिक अलसाई हो अभिराम।

श्रद्धा के रूप का यह वर्णन उसके व्यक्तित्व को एक व्यापकता दे देता है। अमूर्त भावनाओं की व्यञ्जना के लिये कवि के पास प्राकृतिक उपकरणों का अक्षय आगार है, इसमें सन्देह नहीं। एक चित्र इसी विषय का और भी दर्शनीय है—

कुसुम कानन अंचल में मंद
पवन प्रेरित सौरभ साकार,
रचित परमाणु पराग शरीर
खड़ा हो ले मधु का आधार।

प्राकृतिक उपादानों से मानवीय छवि की यह कवि-कला बहुत सुन्दर और सरस है। मनु ने श्रद्धा के दर्शन किये और श्रद्धा ने मनु के। दोनों के मन में उत्कंठा का होना भी स्वाभाविक है। श्रद्धा ने उसी उत्कंठा के शमन के लिये कुछ कहना प्रारम्भ किया, उसके कथन की सार्थकता और प्रभावोत्पादकता देखिये—

लगा कहने आगंतुक व्यक्ति
मिटाता उत्कंठा सविशेष,
दे रहा हो कोकिल सानंद
सुमन को ज्यों मधुमय संदेश।

काम सर्ग में काम के प्रभाव से केवल मनु का ही उद्वेलित होना कवि ने नहीं दिखाया वरन् प्रकृति भी उसी प्रभाव से आकुल चित्रित की गई है—

क्या तुम्हें देखकर आते यों
मतवाली कोयल बोली थी,

उस नीरवता में अलसाई
कलियों ने आँखें खोली थी।
जब लीला से तुम सीख रहे
कोरक कोने में लुक रहना,
तब शिथिल सुरभि से धरणी में
बिछलन न हुई थी सच कहना।

अथवा

द्रुम लता पड़ी सरिताओं की
शैलों के गले सनाथ हुये,
जलनिधि का अंचल व्यजन बना
धरणी का, दो दो साथ हुये।

× × ×

उस लता कुंज की झिलमिल से
हेमाभरश्मि थी खेल रही,
देवों के सोम सुधा रस की
मनु के हाथों में बेल रही।

वासना सर्ग में भी प्रकृति मनु की भावानुगामिनी है—

देखती, ऊँचे शिखर का व्योम चुंबन व्यस्त
लौटना अंतिम किरण का और होना अस्त,
चलो तो इस कौमुदी में देख आवें आज
प्रकृति का यह स्वप्न शासन, साधना का राज।

इसके बाद सारी प्रकृति मनु के अनुराग से रंजित हो उठती है—

सृष्टि हँसने लगी आँखों में खिला अनुराग
राग रंजित चंद्रिका थी, उड़ा सुमन पराग।

× × ×

कामायनी

देवदारू निकुंज गह्वर सब सुधा में स्नात
सब मनाते एक उत्सव जागरण की रात,
आ रही थी मदिर भीनी माधवी की गंध
पवन के घन घिरे पड़ते थे बने मधु अंध।

× × ×

मनु की कामांधता में प्रकृति का अंधा होना प्रकृति को पुरुष की अनुचरी बना कर छोड़ देता है। मनु कहता भी है—

मधु बरसती विधु किरन हैं काँपती सुकुमार
पवन में है पुलक मंथर, चल रहा मधु भार,
तुम समीप अधीर इतने आज हैं क्यों प्राण!
छक रहा है किस सुरभि से तृप्त होकर घाण!

लज्जा सर्ग का श्री गणेश करते ही हमें लाज के अव्यक्त आगमन की सूचना प्रकृति के माध्यम से मिलती है। वास्तव में लज्जा भाव की चेतना बहुत ही संकोचशील और संदेहमयी होती है। श्रद्धा में लज्जा का प्रवेश देखने योग्य है—

कोमल किसलय के अंचल में
नन्हीं कलिका ज्यों छिपती सी,
गोधूली के धूमिल पट में
दीपक के स्वर में दिपती सी।

× × ×

वैसी ही माया में लिपटी
अधरों पर उँगली धरे हुये,
माधव के सरस कुतूहल का
आँखों में पानी भरे हुये

बाद में लज्जा स्वयं अपना परिचय देती है—

हिल्लोल भरा हो ऋतुपति का,
गोधूली की सी ममता हो,
जागरण प्रात सा हँसता हो
जिसमें मध्यान्ह निखरता हो।

×　　　×　　　×

फूलों की कोमल पंखड़ियाँ
बिखरें जिसके अभिनन्दन में
मकरंद मिलाती हों अपना
स्वागत के कुमकुम चंदन में।

×　　　×　　　×

उज्ज्वल वरदान चेतना का
सौन्दर्य जिसे सब कहते हैं,
जिसमें अनंत अभिलाषा के
सपने सब जगते रहते हैं।

मैं उसी चपल की धात्री हूँ
गौरव महिमा हूँ सिखलाती,
ठोकर जो लगने वाली है
उसको धीरे से समझाती।

कहने की आवश्यकता नहीं कि प्राकृतिक माध्यम से लज्जा का परिचय प्रसाद जी ने बड़े मनोवैज्ञानिक ढंग से दिया है। प्रसाद जी ने लिखा है—

"अकस्मात जीवन कानन में, एक राका रजनी की छाया में छिपकर मधुर वसंत घुस आता है। शरीर की सब क्यारियाँ हरी भरी हो जाती हैं। सौन्दर्य का कोकिल 'कौन' कह कर सब को रोकने टोकने लगता है, पुकारने लगता है। राजकुमारी फिर वही

कामायनी

प्रेम में मुकुल लग जाता है, आँसू भरी स्मृतियाँ मकरंद सी उसमें छिपी रहती हैं।

×

धड़कते हुये रमणीक वक्ष पर हाथ रख कर, उस कम्पन में स्वर मिलाकर कामदेव गाता है और राजकुमारी वही काम-संगीत की तान सौन्दर्य की लहर बन कर युवतियों के मुख में लज्जा और स्वास्थ्य की लाली चढ़ाया करती है। लज्जा का यही काव्योचित विश्लेषण प्रसाद जी ने किया है।"

कर्म सर्ग में मनु को यज्ञ करने की इच्छा होती है और वह जानता है कि श्रद्धा इसे उस रूप में स्वीकार नहीं करेगी। उधर असुर पुरोहित आकुलि ने भी यही सोचा, वह अपने साथी से कहता है—

> आकुलि ने तब कहा, देखते
> नहीं साथ में उसके,
> एक मृदुलता की ममता की
> छाया रहती है हँस के।
> अंधकार को दूर भगाती
> वह आलोक किरन सी,
> मेरी माया बिंध जाती है
> जिससे हलके घन सी।

किन्तु जब यज्ञ आदि के बाद उन असुर-पुरोहितों की प्रेरणा से मनु—

> पुरोडाश के साथ सोम का
> पान लगे मनु करने,
> लगे प्राण के रिक्त अंश को
> मादकता से भरने।

तब—

संध्या की धूसर छाया में
शैल शृंग की रेखा,
अंकित थी दिगंत अम्बर में
लिये मलिन शशि लेखा।

इस मलिन शशिलेखा से मानो कवि आगामी मलिन भविष्य की सूचना दे देता है। तभी तो आगे चल कर हम देखते हैं कि—

विश्व विपुल आतंक त्रस्त है
अपने ताप विषम से,
फैल रही है घनी नीलिमा
अंतर्दाह परम से।

उद्वेलित है उदधि, लहरियाँ
लौट रहीं व्याकुल सी,
चक्रवाल की धुँधली रेखा
मानो जाती झुलसी।

सघन धूम कुंडल में जैसी
नाच रही यह ज्वाला,
तिमिर फणी पहने है मानो
अपने मणि की माला।

ईर्ष्या सर्ग की भूमिका में ही कवि ने कह दिया है—

पल भर की उस चंचलता ने
खो दिया हृदय का स्वाधिकार
श्रद्धा की अब वह मधुर निशा
फैलाती निष्फल अंधकार

अब मनु का मन मृगया में इतना लीन है कि वह उसके सामने श्रद्धा की कुछ चिन्ता नहीं करता। इधर श्रद्धा अपने अन्तस्तल में

एक शिशु का जीवन-पोषण प्रारम्भ करती है। उस समय का भी उसका एक चित्र प्रसाद ने दिया है—

केतकी गर्भ सा पीला मुख
आँखों में आलस भरा स्नेह,
कुछ कृशता नई लजीली थी
कंपित लतिका सी लिये देह।

मातृत्व बोझ से झुके हुये
बँध रहे पयोधर पीन आज,
कोमल काले ऊनों की नव
पट्टिका बनाती रुचिर साज!

उस समय उसके सौन्दर्य-स्वरूप की कल्पना बहुत ही अनूठी और मनोमुग्धकारी है—

सोने की सिकता में मानो
कालिंदी बहती भर उसास,
स्वर्गंगा में इन्दीवर की
या एक पंक्ति कर रही हास।

ईर्ष्या की ज्वाला में जलता हुआ मनु श्रद्धा को छोड़ कर निकल जाता है और इड़ा के पास पहुँचता है। उस सुख शान्ति के भाण्डार हिमालय को अपनी भावनाओं के अनुरूप इस प्रकार देखता है—

जो अचल हिमानी से रंजित, उन्मुक्त, उपेक्षा भरे तुंग
अपने जड़ गौरव के प्रतीक वसुधा का कर अभिमान भंग,
अपनी समाधि में रहे सुखी बह जाती हैं नदियाँ अबोध
कुछ स्वेद बिंदु उसके लेकर वह स्तिमित नयन गत शोक क्रोध।

किन्तु अपनी समाधि में सुखी रहने वाला तथा नदियों के

अति उन्नत हिमालय मनु को संतोष नहीं दे पाता, वह सोचने लगता है—

इस दुखमय जीवन का प्रकाश
नभ नील लता की डालों में उलझा अपने सुख से हताश
कलियाँ जिनको मैं समझ रहा वे काँटे बिखरे आस पास
कितना बीहड़ पथ चला और पड़ रहा कहीं थक कर नितांत
उन्मुक्त शिखर हँसते मुझ पर रोता मैं निर्वासित अशांत

कहने की आवश्यकता नहीं कि मनु को श्रद्धा के छोड़ आने की ग्लानि है। आशा सर्ग से मनु उल्लास के आवेग में प्रकृति के साथ अपने मन का पूर्ण तादात्म्य स्थापित कर चुका था। इस वियोगावस्था में उसकी सारी प्रतिक्रिया सामने आती है, क्योंकि वास्तव में प्रकृति में परिवर्तन नहीं हुआ, परिवर्तन हुआ है मनु के मन और स्थिति में। वह कहता भी है—

जीवन निशीथ के अंधकार
तू घूम रहा अभिलाषा के नव ज्वलन धूम सा दुर्निवार

यौवन मधुवन की कालिंदी बह रही चूम कर सब दिगंत
मन शिशु की क्रीड़ा नौकाएँ बस दौड़ लगाती हैं अनंत

एक बार फिर मनु इड़ा के मिलन से अपनी काम-वासना की तृप्ति की आकांक्षाओं से प्रसन्न हो जाता है, प्रकृति भी उसके साथ पुलकित हो उठती है—

प्राची में फैला मधुर राग
जिसके मंडल में एक कमल खिल उठा सुनहला भर पराग
जिसके परिमल से व्याकुल हो श्यामल कलरव सब उठे जाग

> आलोक रश्मि से बुने उषा अंचल में आन्दोलन-अमंद
> करता प्रभात का मधुर पवन सब ओर वितरने को मरंद,

मनु के जीवन का तम-विराग सो गया। इड़ा की रूप-माधुरी में उसने अपने को निमज्जित कर दिया यथा सिन्धु में बिन्दु।

मनु श्रद्धा को छोड़ कर चला गया और इड़ा के साथ सुख से रहने लगा, किन्तु श्रद्धा की यहाँ जो दशा थी उसका परिचय स्वप्न सर्ग में हमें इस प्रकार मिलता है—

> संध्या अरुण जलज केशर ले अब तक मन थी बहलाती,
> मुरझा कर कब गिरा तामरस उसको खोज कहाँ पाती
> क्षितिज भाल का कुमकुम मिटता मलिन कालिमा के कर से
> कोकिल की काकली वृथा ही अब कलियों पर मँडराती।
> कामायनी कुसुम वसुधा पर पड़ी, न वह मकरंद रहा
> एक चित्र बस रेखाओं का, अब उसमें है रंग कहाँ!
> वह प्रभात का हीनकला शशि, किरन कहाँ चाँदनी रही
> वह संध्या था, रवि शशि तारा ये सब कोई नहीं जहाँ!

श्रद्धा को अपनी वियोग विह्वलता से समस्त संसार सारी प्रकृति उदास और मलीन जान पड़ती है। और उसकी यह दशा हो जाती है—

> मानस का स्मृति शतदल खिलता, झरते विंदु मरंद घने
> मोती कठिन पारदर्शी ये इनमें कितने चित्र बने?
> आँसू सरल तरल विद्युतकण नयनालोक विरह तम में
> प्राण पथिक यह संबल लेकर लगा कल्पना जग रचने।

यहाँ पर प्रसाद जी ने प्रकृति को कुछ विश्राम दिया है। क्योंकि उनका प्रकृति चित्रण मानवीय आवेगों के साथ चलता है और

उसे खोजती हुई उसके पास पहुँचती है, यथा प्यासे के लिये पानी। इड़ा ने श्रद्धा को उस समय इस प्रकार देखा—

शिथिल शरीर वसन विशृङ्खल
कवरी अधिक अधीर खुली,
छिन्न पत्र मकरंद लुटी सी
ज्यों मुरझाई हुई कली।

इस प्रकार श्रद्धा मनु के पास पहुँच कर अपने शीतल मधुर स्पर्श तथा अनुलेपन से मनु को स्वस्थ किया। तब मनु का हृदय नीले नभ में छायापथ की भाँति खुल गया और मनु के लिये पीड़ामय विश्व पुनः—

वर्षा के कदम्ब कानन सा
सृष्टि विभव हो उठा हरा

और

कुसुम प्रसन्न हुये हँसते से।

× × ×

किन्तु मनु लज्जा और ग्लानि के कारण फिर कहीं चला गया। श्रद्धा इस बार इतनी दुखी नहीं थी जितनी स्तब्ध। प्रकृति भी उसका साथ दे रही थी। दर्शन सर्ग की ये पंक्तियाँ श्रद्धा के साथ हैं—

चुपचाप खड़ी थी वृक्ष पाँत,
सुनती जैसे कुछ निजी बात।

इस बार श्रद्धा अपने कुमार को इड़ा के साथ छोड़ कर मनु को खोजने निकली, उस समय—

निस्तब्ध गगन था, दिशा शान्त
वह था असीम का चित्र कान्त

× × ×

सरिता तट तरु का क्षितिज प्रान्त
केवल बिखेरता दीन ध्वान्त।

इस बार शीघ्र ही मनु मिल जाता है और दोनों हिमालय की ऊँचाई पर चढ़ते चले जाते हैं, यहाँ तक कि वे उस ऊँचाई पर पहुँचते हैं जहाँ—

टकरा कर चक्कर खाकर पवन भी
फिर से वहीं लौट आ जाता।

यहाँ पहुँच कर श्रद्धा मनु को क्रम से इच्छा, कर्म, और ज्ञान की भूमि का परिचय देती है—

नियममयी उलझन लतिका का
भाव विटप से आकर मिलना,
जीवन वन की बनी समस्या
आशा नभ कुसुमों का खिलना।

प्रकृति के रूपक से इच्छा का यह परिचय कितना बोधगम्य है, जो कवि की प्रतिभा का प्रबल प्रमाण है। इसके पश्चात्—

वर्षा के घन नाद कर रहे
तट कूलों को सहज गिराती,
प्लावित करती वन कुंजों को
लक्ष्य प्राप्ति सरिता बह जाती।

कर्म भूमि की कोलाहलमयी आकुलता का निदर्शन करती हुई श्रद्धा ज्ञान-भूमि की ओर संकेत करती है—

यहाँ शरद की धवल ज्योत्स्ना
अन्धकार को भेद निखरती,
यह अनवस्था, युगल मिले से
विकल व्यवस्था सदा बिखरती

इस विश्लेषण के उपरान्त श्रद्धा अपनी स्मित रेखा से उन तीनों का सामञ्जस्य कर देती है और इस सामञ्जस्य से आनन्द का आलोक फूट पड़ता है। इड़ा और कुमार भी इस आनन्द का अनुभव करने को वहाँ पहुँच जाते हैं और देखते हैं कि—

वह मञ्जरियों का कानन
कुछ अरुण पीत हरियाली
प्रति पर्व सुमन संकुल थे
छिप गई उन्हीं में डाली।

चिर मिलित प्रकृति से पुलकित
वह चेतन पुरुष पुरातन
निज शक्ति तरंगायित था
आनन्द-श्रंबु निधि शोभन।

आनन्द की इसी स्थिति में इड़ा और कुमार का सहयोग मानवता की परम्परा चलाने के लिये कर दिया जाता है और मनु, श्रद्धा तथा सम्पूर्ण प्रकृति का आनन्द रूप विश्व में व्याप्त हो जाता है—

रश्मियाँ बनी अपसरियाँ
अंतरिक्ष में नचती थीं,
परिमल का कन कन लेकर
निज रंगमंच रचती थीं।

मांसल सी आज हुई थी
हिमवती प्रकृति पाषाणी,
उस लास रास में विह्वल
थी हँसती सी कल्याणी।

इसी अलौकिक आनन्द की छाया में कामायनी की कथा अपने को समाहित कर देती है।

एकपरिचय

कामायनी की प्रकृति का अध्ययन करने के बाद हम सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्रसाद जी ने प्रकृति का उपयोग प्रमुखतः तीन प्रकार से किया है, आलम्बन के रूप में, कथासूत्र के आधार के रूप में और अलंकार के रूप में। इन तीनों रूपों में प्रसाद की प्रकृति बहुत ही उपयुक्त और अद्वितीय है। कवि ने प्रकृति की स्वतंत्र सत्ता का भी आभास दिया है किन्तु वह प्रमुखतः मानवमनोविकारों की प्रतिक्रिया अथवा उनकी आरोपणा मात्र है। प्रसाद जी ने प्रकृति को मानव-भावनाओं के पीछे-पीछे दौड़ाया है। मानव के साथ कभी वह हँसती, कभी रोती, कभी आश्चर्य करती तथा गिरती उठती चलती है। ऋतु-वर्णन के साथ प्रसाद का रूप-वर्णन बहुत सजीव और सात्विक है, जिसका परिचय दिया जा चुका है। अपनी कथा-प्रतिमा को उन्होंने प्राकृतिक अलंकारों से बहुत ही रुचिपूर्ण सजाया है, इसमें रीतिकालीन कवियों की शैली का आभास तक नहीं आने पाया। उनकी कविता कामिनी अलंकारों से एक सरल सहज आधुनिकता लिये है, जो शृंगार और सुरुचि की समन्वयात्मक प्रवृत्ति है। इस प्रकार प्रकृति की बाह्य तथा आन्तरिक स्थितियों का मानव जीवन के साथ प्रसाद जी ने बहुत ही सुन्दर निर्वाह कराया है। प्रकृति के जिन अंगों तथा रूपों का प्रसाद ने संश्लिष्ट आयोजन किया है, वह हिन्दी को उनकी अपनी देन है। प्रसाद प्रकृति के कवि हैं, चित्रकार हैं और हैं परम पारखी। उनकी प्रकृति बासी नहीं ताजी है, निर्जीव नहीं सजीव है तथा भद्दी नहीं सुन्दर है।

कामायनी की नारी

कपरिचय

-भारतेन्दु

[श्रद्धा]

प्रभातकालीन वासंती-वायु के सरस परस की भाँति प्रसाद की सुकुमार नारियाँ जीवन के एक कुलक-पुलक से भर कर आकाश की अनन्त नीलिमा में विलीन हो जाती हैं। उनकी स्मृति पाठकों के मन में कभी करुण-कोमल हँसी की भाँति और कभी सहज-सजल रुदन की भाँति रह जाती है। जीवन में वे अपनी स्निग्धता सहृदयता एवं स्नेहशीलता से मानवता की क्लान्ति निवृत्ति का उदार आश्वासन तो देती है, किन्तु अपनी जीवन-विवशता, सामाजिक संकीर्णता के कारण पूर्णता की प्रतिष्ठापना में स्वयं समाहित हो जाती हैं। पाठक उनकी जीवन-लीला से स्तब्ध रह जाता है। प्रसाद की नारी का सुमन-सौन्दर्य और भाव प्राण जीवन की कठोरता में विचलित हो जाता है। यह स्वाभाविक भी है, जीवन में फूल के सौन्दर्य की अपेक्षा हमें मानवीय सौन्दर्य ही अधिक आश्रय दे पाता है। समीर के झोंकों से इधर उधर तैरते हुये शरदकालीन बादलों की वह सार्थकता नहीं होती जो वर्षा के सजल मन्थरगामी बादलों की। कामायनी के पहिले प्रसाद की नारी कुछ ऐसी ही है—कल्याणी, मालविका तथा देवसेना इसी धारणा की आधार हैं।

कामायनी की नारी में प्रसाद की नारी-सृष्टि पूर्णता को प्राप्त होती है। इसकी प्रमुख नारी श्रद्धा में हम मानवीय चेतना की दीप्ति, बुद्धि की स्फूर्ति तथा हृदय का अनुराग लावण्य एवं वात्सल्य का व्यापक वरदान पाते हैं। श्रद्धा का निर्माण अनन्त स्नेह, निश्छल सहृदयता और स्वाभाविक कोमलता से हुआ है, ममता उसकी माया और क्षमा उसकी अमोघ शक्ति है। वह विराट और कोमल की मीलित मुस्कान है और है जीवन की वह मंदाकिनी जो प्यास और मलिनता दोनों का शमन करती है। उसमें हमें दर्शन और सौन्दर्य का सरल समन्वय मिलता है। वह

एकपरिचय

पुरुष बुद्धि प्रधान तथा नारी हृदय प्रधान होती है। पुरुष शक्तियों का उपासक होता है और नारी समर्पण की साध। पुरुष आदान चाहता है और नारी प्रदान, पुरुष में स्वार्थ होता है और नारी में त्याग। अपनी इन्हीं हार्दिक कोमलताओं और उदारताओं की प्रेरणा से श्रद्धा शीघ्र ही मनु से कह देती है—

> दब रहे हो अपने ही बोझ
> खोजते भी न कहीं अवलम्ब
> तुम्हारा सहचर बन कर क्यों न
> उऋण होऊँ मैं बिना विलम्ब ?

कहना न होगा कि इस सहवास की भावना में सहृदयता का जितना आवेग है स्नेह का उतना नहीं। इस प्रकार श्रद्धा अपनी दया, माया, ममता सब के द्वार मनु के लिये खोल देती है। केवल नारी का ही हृदय समर्पण की इस आनन्दानुभूति का अधिकारी है, यही नारी का साधन पथ है। पुरुष और नारी का यह सम्बन्ध मानवता की एक बड़ी महान समस्या है। आदि काल से लेकर आज तक संसार के विचारक इस पर अपनी प्रतिभा का प्रकाश प्रकीर्ण करते चले आ रहे हैं। प्रसाद जी ने इसमें अपना सुन्दर सहयोग दिया है। श्रद्धा की इस बात पर मनु ने कोई विशेष ध्यान नहीं दिया क्योंकि वह तो नारी से अपरिचित आदि नर था, तब श्रद्धा फिर उसके मनोरागों को उभाड़ने का प्रयत्न करती है, यथा सना युद्ध में जीतने का।

> अरे वह क्या तुम सुनते नहीं
> विधाता का मंगल वरदान,
> 'शक्तिशाली हो, विजयी बनो'
> विश्व में गूँज रहा जय गान।

श्रद्धा यह सब सम्भवतः इसलिये कहती है कि उससे बिना कहे रहा नहीं जाता। उसके कोमल हृदय में मनु को उदास और दुखी देखने की शक्ति नहीं है। मनु के हृदय में धीरे धीरे इच्छा की उत्पत्ति होती है और पुरुष की स्वभाव-जन्य दुर्बलता से वासना में परिणत हो जाती है और अन्त में वह बोल उठता है—

आज लेलो चेतना का यह समर्पण दान
विश्व रानी! सुन्दरी! नारी जगत की मान।

अपने समर्पण की स्वीकृति पाकर श्रद्धा लाज से अनुरंजित हो जाती है और जिस स्नेहशील स्वाभाविकता से अपनी सम्मति देती है, वह देखने की वस्तु है—

मधुर क्रीड़ा मिश्र चिंता साथ ले उल्लास
हृदय का आनन्द कूजन लगा करने रास।
गिर रहीं पलकें, झुकी थी नासिका की नोक
भ्रू लता थी कान तक चढ़ती रही बेरोक,
स्पर्श करने लगी लज्जा ललित कर्ण कपोल
खिला पुलक कदंब सा था भरा गदगद बोल।

और श्रद्धा ने संकोच से कहा—

क्या समर्पण आज का है देव
बनेगा चिर-बंध नारी हृदय हेतु सदैव।

इस समर्पण के साथ ही श्रद्धा के कुमारी-जीवन का अन्त हो जाता है; उसका अकेलापन दूर हो जाता है और वह अपने हृदय की सत्य-सत्ता प्राप्त कर के पत्नी-जीवन में प्रवेश करती है। नारी जीवन की इसी सार्थकता की चर्चा हमारे यहाँ आदि काल से चली आती है। आदि पुरुष (ब्रह्म) की शक्ति में आदि नारी (प्रकृति) की भावना का तिरोहित होना इस समर्पण का रूपक

यह एकान्त स्वार्थ भीषण है
अपना नाश करेगा।

औरों को हँसते देखो मनु
हँसो और सुख पाओ,
अपने सुख को विस्तृत कर लो
सब को सुखी बनाओ!

प्राणी मात्र के लिये कितनी ममता है? इस शिक्षण की तह में श्रद्धा की सार्वभौमिक सहानुभूतिमयी प्रवृतियाँ स्पष्ट दिखाई पड़ती हैं। श्रद्धा का यह सम्वेदन मन बहलाव का साधन नहीं है और न है बौद्धिक सहानुभूति। तभी तो वह कहती है कि—

वे द्रोह न करने के स्थल हैं
जो पाले जा सकते सहेतु,
पशु से यदि हम कुछ ऊँचे हैं
तो भव जलनिधि में बनें सेतु।

किन्तु मनु अपनी अहमन्यता में उसकी बातें क्यों सुनने लगा? इसी विचार वैषम्य की स्थिति में श्रद्धा गर्भ-धारण करती है। मनु मृगया को चला गया है और श्रद्धा अकेले बैठी है, मातृत्व की साधना में लीन। पश्चिम की रागमयी संध्या काली हो चली किन्तु मनु अब तक नहीं लौटा, श्रद्धा हाथों से तकली घुमाती अनमनी बैठी है।

भारतीय प्राचीन कवियों ने भी गर्भिणी स्त्री के सौन्दर्य का वर्णन किया है, यद्यपि संसार के अन्य देशों में यह लज्जा का विषय माना जाता है। वास्तव में गर्भिणी नारी के शरीर-सौन्दर्य में यद्यपि उतना आकर्षण नहीं होता किन्तु नारीत्व की चरम सार्थकता मातृत्व उसमें अपनी सहज साकारता पा लेता है।

निर्माण की शक्ति ही उसका शृङ्गार बन जाती है। ऐसे सौन्दर्य में आँखों को तृप्त करने की सामर्थ्य चाहे न हो किन्तु मन की तृप्ति अवश्य होती है। श्रद्धा का यह रूप दर्शनीय है—

केतकी गर्भ सा पीला मुँह
आँखों में आलस भरा स्नेह,
कुछ कृशता नई लजीली थी
कंपित लतिका सी लिये देह।

मातृत्व बोझ से झुके हुए
बँध रहे पयोधर पीन आज,
कोमल काले ऊनों की नव
पट्टिका बनाती रुचिर साज।

मनु वापस आ गया और श्रद्धा की उदासी को देखकर चुपचाप खड़ा रहा। श्रद्धा ने उसके मन की बात जान ली और हँस कर बोली—

यह हिंसा इतनी है प्यारी।
जो भुलवाती है देह-गेह॥
× × ×
देखो नीड़ों में विहग युगल।
अपने शिशुओं को रहे चूम॥
× × ×

इन पंक्तियों में माँ बनने की कितनी व्याकुल साध छिपी है। आगे वह कहती है—

उनके घर में कोलाहल है
मेरा सूना है गुफा द्वार,
तुमको क्या ऐसी कमी रही
जिसके हित जाते अन्य द्वार?

श्रद्धा की इस ममतामयी मातृत्व की कामना ने मनु का हृदय ईर्ष्या और अहंकार से भर दिया और वह उलटे श्रद्धा में उदासीनता का आक्षेप करने लगा।

वह आकुलता अब कहाँ रही
जिसमें सब ही कुछ जाय भूल।

मनु को श्रद्धा की पशुओं के प्रति ममता भी बुरी लगने लगी! यहाँ तक कि उसका तकली कातना भी वह बुरा मानने लगा। अपने एकान्त स्वार्थ की साधना में लीन व्यक्ति की यही दशा होती है। श्रद्धा मनु के भावों की परीक्षा करने में बहुत निपुण है। उसने मनु का मन शान्त करने के लिये कहा—

मैंने तो एक बनाया है
चलकर देखो मेरा कुटीर,
यों कह कर श्रद्धा हाथ पकड़
मनु को ले चली वहाँ अधीर।

मनु ने जाकर देखा कि श्रद्धा की कितनी ही मीठी अभिलाषायें उसकी कुटिया में घूम रही हैं और कितने ही मधुर गायन उसमें गूँज रहे हैं, किन्तु उसे अच्छा नहीं लगा। वह चुप रहा। श्रद्धा अपनी भविष्य-कल्पना का कोमल रूप उसके सामने इस प्रकार रखती है—

सूना न रहेगा यह मेरा
लघु विश्व कभी जब रहोगे न,
मैं उसके लिये बिछाऊँगी
फूलों के रस का मृदुल फेन।
झूले पर उसे झुलाऊँगी
दुलराकर लूँगी बदन चूम,

निर्माण की शक्ति ही उसका शृङ्गार बन जाती है। ऐसे सौन्दर्य में आँखों को तृप्त करने की सामर्थ्य चाहे न हो किन्तु मन की तृप्ति अवश्य होती है। श्रद्धा का यह रूप दर्शनीय है—

> पकी गर्भ सा पीला मुँह
> आँखों में आलस भरा स्नेह,
> कुछ कृशता नई लजीली थी
> कंपित लतिका सी लिये देह।
>
> मातृत्व बोझ से झुके हुये
> बँध रहे पयोधर पीन आज,
> कोमल काले ऊनों की नव-
> पट्टिका बनाती रुचिर साज।

मनु वापस आ गया और श्रद्धा की उदासी को देखकर चुप-चाप खड़ा रहा। श्रद्धा ने उसके मन की बात जान ली और हँस-कर बोली—

> यह हिंसा इतनी है प्यारी।
> जो भुलवाती है देह-गेह॥
>
> × × ×
>
> देखो नीड़ों में विहग युगल।
> अपने शिशुओं को रहे चूम॥
>
> × × ×

इन पंक्तियों में माँ बनने की कितनी व्याकुल साध छिपी है। आगे वह कहती है—

> उनके घर में कोलाहल है
> मेरा सूना है गुफा द्वार,
> तुमको क्या ऐसी कमी रही
> जिसके हित जाते अन्य द्वार ?

कामायनी

की रह गई है। श्रद्धा बहुत दुखी हो जाती है क्योंकि दो हृदयों का एक में लय हो जाना ही तो आनन्द और उल्लास की सृष्टि करता है फिर उनका अलग हो जाना निश्चय ही पीड़ामय होगा, इसे कौन नहीं जानता ? श्रद्धा की उस समय यह दशा थी—

> कामायनी कुसुम वसुधा पर पड़ी न वह मकरंद रहा
> एक चित्र बस रेखाओं का अब उसमें है रंग कहाँ ?

किन्तु श्रद्धा का विरह केवल काव्य का विरह-वर्णन नहीं है। उसके हृदय की वह मर्म वेदना है जिसका अनुभव उसने किया है। तभी तो वह मंदाकिनी से प्रश्न करती है—

> जीवन में सुख अधिक या कि दुख, मंदाकिनी कुछ बोलोगी
> नभ में नखत अधिक, सागर में या बुदबुद हैं गिन दोगी
> प्रतिविम्बत हैं तारा तुम में सिन्धु मिलन को जाती हो
> या दोनों प्रतिविम्ब एक के इस रहस्य को खोलोगी।

श्रद्धा का विरह कितना सात्विक तथा दार्शनिक है ? क्योंकि वह विलासिनी नहीं अनुरागिनी है, इसीलिये उसका विरह संयत और साधना-सिद्ध है। वह माँ भी है। अपने नव-जात शिशु को, वह स्वयं दुखी होकर कष्ट नहीं देना चाहती। वह सोचने लगती है—

> अरे मधुर है कष्ट पूर्ण भी जीवन की बीती घड़ियाँ
> जब निस्संवल होकर कोई जोड़ रहा बिखरी कड़ियाँ,
>
> × × ×
>
> विस्मृत हों वे बीती बातें अब जिनमें कुछ सार नहीं
> प्रिय की निष्ठुर विजय हुई पर यह तो मेरी हार नहीं।

साधनाशील स्नेह की विरह-अवस्था इसी प्रकार होती है। उसमें मिलन की मादकता में वह तीव्रता नहीं रहती जो विरह की

मेरी छाती से लिपटा इस
घाटी में लेगा सहज घूम।

× × ×

अपनी मीठी रसना से वह
बोलेगा ऐसे मधुर बोल,
मेरी पीड़ा पर छिड़केगा
जो कुसुम धूलि मकरंद घोल।
मेरी आँखों का सब पानी
तब बन जायेगा अमृत स्निग्ध,
उन निर्विकार नयनों में जब
देखूँगी अपना चित्र मुग्ध।

मनु का ईर्ष्यालु मन श्रद्धा की इस भावना तथा कामना से और भी जल उठता है। माँ की इस ममता का मूल्य वह नहीं आँक पाता। वात्सल्य की इस पवित्र सरिता में वह अपने कठोर हृदय को प्लावित नहीं कर पाता।

श्रद्धा की इस वात्सल्यमयी नूतन अनुराग-भावना का मर्म मनु को स्पर्श नहीं करता, किन्तु इससे नारी जाति के मातृत्व की महिमा में कुछ भी अन्तर नहीं पड़ता, क्योंकि मातृत्व ही नारी का चरम विकास है। मनु श्रद्धा के इस स्नेह का सन्देहात्मक रूप ग्रहण करता है और उसे छोड़ कर भाग जाता है। श्रद्धा वियोगिनी बन जाती है। जीवन में प्रिय-मिलन और मातृत्व के महोत्सव के पश्चात् उसे वियोग का भार भी झेलना पड़ता है। पौरुष से थोड़ी देर के लिये मातृत्व पराजित होता है। पुरुष का यह अत्याचार नारी, श्रद्धा से लेकर आज तक उठाती चली आती है, इसमें सन्देह नहीं। पत्नी पति की सहचरी भी है और स्वामिनी भी, किन्तु मानव की प्रवृत्ति उसे केवल अनुचरी के रूप में देखने

की रह गई है। श्रद्धा बहुत दुखी हो जाती है क्योंकि दो हृदयों का एक में लय हो जाना ही तो आनन्द और उल्लास की सृष्टि करता है फिर उनका अलग हो जाना निश्चय ही पीड़ामय होगा, इसे कौन नहीं जानता? श्रद्धा की उस समय यह दशा थी—

> कामायनी कुसुम वसुधा पर पड़ी न वह मकरंद रहा
> एक चित्र बस रेखाओं का अब उसमें है रंग कहाँ?

किन्तु श्रद्धा का विरह केवल काव्य का विरह-वर्णन नहीं है। उसके हृदय की वह मर्म वेदना है जिसका अनुभव उसने किया है। तभी तो वह मंदाकिनी से प्रश्न करती है—

> जीवन में सुख अधिक या कि दुख, मदाकिनी कुछ बोलोगी
> नभ में नखत अधिक, सागर में या बुदबुद हैं गिन दोगी
> प्रतिबिम्बित हैं तारा तुम में सिन्धु मिलन को जाती हो
> या दोनों प्रतिबिम्ब एक के इस रहस्य को खोलोगी।

श्रद्धा का विरह कितना सात्विक तथा दार्शनिक है? क्योंकि वह विलासिनी नहीं अनुरागिनी है, इसीलिये उसका विरह संयत और साधना-सिद्ध है। वह माँ भी है। अपने नव-जात शिशु को, वह स्वयं दुखी होकर कष्ट नहीं देना चाहती। वह सोचने लगती है—

> अरे मधुर है कष्ट पूर्ण भी जीवन की बीती घड़ियाँ
> जब निस्संबल होकर कोई जोड़ रहा बिखरी कड़ियाँ,
> × × ×
> विस्मृत हों वे बीती बातें अब जिनमें कुछ सार नहीं
> प्रिय की निष्ठुर विजय हुई पर यह तो मेरी हार नहीं।

साधनाशील स्नेह की विरह-अवस्था इसी प्रकार होती है। उसमें मिलन की मादकता में वह तीव्रता नहीं रहती जो विरह की

व्याकुलता में। मिलन शारीरिकता का पोषक है और विरह हार्दिकता का। मिलन में व्यक्ति अपने से बाहर और विरह में भीतर रहता है। प्रेम की सची साधना में प्राप्ति की आकाँक्षा नहीं रहती क्योंकि वह प्राप्ति नहीं उत्सर्ग है, साधन नहीं साधना है। इसी कारण श्रद्धा अपनी विरह-विह्वलता के प्रदर्शन का कोई प्रयास नहीं करती, एक सती की भाँति अपने प्रियतम की इच्छाओं में अपने को लीन कर देती है। यही तो आत्म-समर्पण की सार्थकता है। श्रद्धा कहती है—

> चिर जीवन बना समर्पण यह अभिमान अकिंचन का
> कभी दे दिया था कुछ मैंने ऐसा अब अनुमान रहा।

दूसरों का उल्लास तथा आनन्द दुखी व्यक्ति की दुखानुभूति को और अधिक तीव्रता दे देता है। किसी को साथ देखकर ही हम अकेलेपन का अनुभव करते हैं। श्रद्धा भी इसका अनुभव करती है—

> बन बालाओं के निकुंज सब भरे वेणु के मधु स्वर से,
> लौट चुके थे आने वाले सुन पुकार अपने घर से,
> किन्तु न आया वह परदेशी युग छिप गया प्रतीक्षा में
> रजनी की भीगी पलकों से तुहिन-बिन्दु कण-कण बरसे।

किन्तु श्रद्धा का प्रेम तो उसके जीवन की मानसिक शक्ति है, कामुक दुर्बलता नहीं। उसने उसे अपने जीवन के विकास के बीच में पाया है, नदकों या रोमान्स-स्थलों में नहीं। इसीलिये वह कर्तव्य और मातृत्व से संयमित है। अब तक जो विरह की व्याकुलता और असह्य वेदना नारी के ऊपर मोपी जाती थी प्रसाद ने उसका अनुसरण नहीं किया, अतः श्रद्धा का प्रेम स्वाभाविक, शुद्ध और निर्मल हो पाया है। श्रद्धा की इसी विरह-कातरता में मातृ

दिन व्यतीत हो गया और संध्या हो चली। आकाश के दीपक जल उठे और इच्छाओं के शलभ उस ओर को उड़ने लगे। श्रद्धा की आँखों का पानी आँखों में ही रह गया। इसके पश्चात् वह कुमार के पास जाती है—

माँ फिर एक किलक दूरागत गूँज उठी कुटिया सूनी
माँ उठ दौड़ी भरे हृदय में लेकर उत्कंठा दूनी,
लुटरी खुली अलक, रज-धूसर बाहें आकर लिपट गईं
निशा तापसी की जलने को धधक उठी बुझती धूनी।
कहाँ रहा नटखट तू फिरता अब तक मेरा भाग्य बना
अरे पिता के प्रतिनिधि तू ने भी सुख दुख तो दिया घना
चंचल तू वनचर मृग बनकर भरता है चौकड़ी कहीं
मैं डरती तू रूठ न जाये करती कैसे तुझे मना।

श्रद्धा की यह उक्ति बहुत ही अनूठी है। इस समय उसके मस्तिष्क में मनु के रूठ कर चले जाने की भावना का प्रधान्य है, वह कुमार से भी कहती है कि तुझसे मना कैसे करती तू अपने पिता का प्रतिनिधि है, तू भी न रूठ जाय। पिता के प्रतिनिधि में श्रद्धा का जो भाव मानव के प्रति है, वह बहुत ही मार्मिक और मनोवैज्ञानिक है। इस प्रकार अपनी विरह-ज्वाला को वात्सल्य से सींचती हुई श्रद्धा कुछ शान्त होती है—

श्रद्धा चुम्बन से प्रसन्न कुछ-कुछ विषाद से भरी रही।

और

कामायनी सकल अपना सुख स्वप्न बना सा देख रही
युग-युग की वह विकल प्रतारित मिटी हुई बन लेख रही।

और कुमार के साथ मनु को खोजने निकल पड़ी। खोजते-खोजते श्रद्धा मनु के पास पहुँचती है और इड़ा से उसकी भेंट होती है। इड़ा ने उसे इस प्रकार देखा—

शिथिल शरीर वसन विशृंखल
कबरी अधिक अधीर खुली,
छिन्न पत्र मकरंद लुटी सी
ज्यों मुरझाई हुई कली।

नव कोमल अवलम्ब साथ में
वय किशोर उँगली पकड़े।

इड़ा—'बैठो आज अधिक चंचल हूँ' कहती हुई श्रद्धा का स्वागत करती है और परिचय प्राप्त करने के पश्चात् उसे मनु के पास ले जाती है। मनु को घायल देखकर श्रद्धा सहसा चीख उठी—

तो क्या सच्चा स्वप्न रहा!
आह प्राणप्रिय यह क्या तुम यों।
घुला हृदय बन नीर बहा।

श्रद्धा अपनी सारी श्रद्धा और स्नेह के साथ मनु को सहलाने लगी जैसे घाव पर कोई शीतल आलेपन किया जा रहा हो। मनु की आँखें खुल गईं और वह गद्गद् होकर उठ बैठा। श्रद्धा ने कुमार को बुलाया और वह भी आ गया। मनु अपनी कृतघ्नता के प्रति बहुत लज्जित होता है और बहुत सी चिकनी चुपड़ी बातें करता है। वहाँ से शीघ्र चले जाने की बात भी सोचता है, क्योंकि वह डरता है कि उसका अपराधी मन कहीं श्रद्धा को पुनः न खो दे? किन्तु श्रद्धा अगाध आत्म-दृढ़ता के साथ चुपचाप मनु का सिर सहलाने लगती है। उसकी आँखों में विश्वास और साहस की भावनायें भरी हुई हैं—

मानो कहती तुम मेरे हो।
अब क्यों कोई वृथा डरे।

स्नेह की सचाई में ऐसा ही विश्वास और बल होता है। दिन बीत गया और रात हो गई। सब सो गये किन्तु—

कामायनी

जगे सभी जब नव-प्रभात में
देखें तो मनु वहाँ नहीं।

श्रद्धा के जीवन में विरहावस्था के स्वप्न की भाँति यह क्षणिक-मिलन भी स्वप्न हो गया। चकोरी के देखते ही चाँद को काली मेघ माला में ढँक लिया। इस बार निश्चय ही श्रद्धा को उतना दुख नहीं होता जितना प्रथमवार हुआ था। वह कहती है—

आते जाते सुख, दुख, दिशि, पल,
शिशु सा आता कर खेल अनिल।
फिर झलमल सुन्दर तारक दल,
नभ रजनी के जुगुनू अविरल।
यह विश्व अरे कितना उदार।
मेरा गृह रे उन्मुक्त द्वार॥

क्योंकि अब श्रद्धा की व्याकुलता उसके हृदय का एक अंश बन जाती है। प्रेम के स्थूल रूप अथवा व्यक्ति-आधार से ऊपर उठकर वह प्रेम की अनन्त सत्ता के प्रदेश में प्रवेश करती है। इस प्रेम तथा विरह का व्यापक रूप उसके सामने आ जाता है। श्रद्धा के प्रेम में अब भावुकता नहीं रसात्मकता आ जाती है और प्रेम की भावना अपना परम विकास पाकर परम-भावना बन जाती है। इस विचार से श्रद्धा दाम्पत्य में अद्वितीय है, उसके सभी भावों की पूर्ति सारे संसार में दिखलाई पड़ती है। वह रात दिन अपने भीतर अपने प्रियतम के पावन, मधुर, शीतल स्पन्दन का अनुभव करती है। प्रेम की यह शाश्वत अनुभूति विरह में ही सम्भव है। गर्म दूध की भाँति वाह्य रूप से चाहे यह ज्वालामय लगे, किन्तु अपने आन्तरिक स्वरूप में यह बहुत ही स्वच्छ, स्वास्थ्यकर और आनन्दमय होती है। वह कहती भी है—

परिवर्तन मय यह चिर मंगल।
मुस्कयाते इसमें भाव सकल॥
हँसता है इसमें कोलाहल।
उल्लास भरा सा अन्तस्तल॥
मेरा निवास है मधुर कान्ति।
यह एक नीड़ है सुखद शान्ति॥

अपनी इस तृप्ति का कारण स्त्री-सुलभ सहज भाव-गोपन से श्रद्धा इड़ा को बताती है—

बोली—तुमसे कैसी विरक्ति
तुम जीवन की अन्धानुरक्ति
× × ×
मनु के मस्तक की चिर अतृप्ति
तुम उत्तेजित चंचला शक्ति।
× × ×

और अन्त में कुमार को इड़ा के हाथों सौंपकर मनु की खोज में फिर निकल जाती है—

हे सौम्य! इड़ा का शुचि दुलार
हर लेगा तेरा व्यथा भार,
यह तर्कमयी तू श्रद्धामय
तू मननशील कर कर्म अभय,
इसका तू सब संताप निचय
हर ले, हो मानव भाग्य उदय,
सब की समरसता कर प्रचार
मेरे सुत सुन माँ की पुकार।

श्रद्धा सरस्वती के किनारे पहुँच कर मनु को एक गुफा में पा

लेती है। प्रसाद जी श्रद्धा की महिमा का इस समय इस प्रकार वर्णन करते हैं—

कुछ उन्नत थे वे शैल शिखर
फिर भी ऊँचा श्रद्धा का सिर
वह लोक-अग्नि में तप गल कर
थी ढली स्वर्ण-प्रतिमा बन कर
मनु ने देखा कितना विचित्र
वह मातृ-मूर्ति थी विश्वमित्र

अपने स्वभाव के अनुकूल मनु इस बार फिर श्रद्धा से बहुत-बहुत क्षमा माँगता है। तब श्रद्धा कहती है—

प्रिय अब तक हो इतने सशंक
देकर कुछ कोई नहीं रंक,
यह विनिमय है या परिवर्तन
बन रहा तुम्हारा ऋण अब धन,
अपराध तुम्हारा यह बंधन
लो बना मुक्ति अब छोड़ स्वजन।

मनु को अपनी उदारता से अभिभूत कर के श्रद्धा कहती है—

तब चलो जहाँ पर शान्ति प्रात
मैं नित्य तुम्हारी सत्य बात।

× × ×

गिर जायेगा जो है अलीक
चलकर मिटती है पड़ी लीक।

और दोनों हिमालय की ऊँचाई की ओर चढ़ने लगते हैं—

दोनों पथिक चले हैं कब से
ऊँचे-ऊँचे चढ़ते चढ़ते,

श्रद्धा आगे मनु पीछे थे
साहस उत्साही से बढ़ते।

वास्तव में वैराग्य ही जीवन की चरम शान्ति है, किन्तु प्रसाद का वैराग्य निषेधात्मक वैराग्य नहीं, साधनात्मक वैराग्य है। जिसका आदि करुणा से होता है और अन्त विश्वकल्याण में। क्योंकि—

निष्ठुर आदि सृष्टि पशुओं की विजित हुई इस करुणा से।
मानव का महत्व जगती पर फैला अरुणा करुणा से॥

श्रद्धा के जीवन का यही मूल मंत्र है। यहाँ पहुँच कर वह केवल करुणामयी न होकर स्वयं करुणा बन जाती है—कामना स्रोत से विरत, कोमल और मधुर। आगे चलकर उसने इच्छा, कर्म और ज्ञान की जो विवेचना की है वह उसकी साधना की चरम सिद्धि है—

यह देखो रागारुण है जो
ऊषा के कन्दुक सा सुन्दर
छायामय कमनीय कलेवर
भावमयी प्रतिमा का मन्दिर।
शब्द, स्पर्श, रस, रूप गंध की
पारदर्शिनी सुघड़ पुतलियाँ
चारों ओर नृत्य करती ज्यों
रूपवती रंगीन तितलियाँ।
* * *
भाव चक्र यह चला रही है
इच्छा की रथ-नाभि घूमती।

इच्छाओं की अनन्तता का परिचय देने के बाद श्रद्धा मनु को कर्म की आधार भूमि का परिचय देती है—

कामायनी

यहाँ सतत संघर्ष, विफलता
कोलाहल का यहाँ राज है,
अंधकार में दौड़ लग रही
मतवाला यह सब समाज है।
बड़ी लालसा यहाँ सुयश की
अपराधों की स्वीकृति बनती,
अंध प्रेरणा से परिचालित
कर्ता में करते निज गिनती।

कर्म की यह बड़ी ही मनोवैज्ञानिक विवेचना है। कर्म के पश्चात् यश और अधिकार की इच्छा स्वाभाविक है। इसके बाद श्रद्धा ज्ञान-भूमि का निदर्शन करती है--

यहाँ अछूत रहा जीवन रस
छूओ मत संचित होने दो,
बस इतना ही भाग तुम्हारा
तृषा, मृषा, वंचित होने दो।

वैराग्य अथवा ज्ञान के आधुनिक रूप पर कवि की यह युक्ति बहुत ही सुन्दर है। इन तीनों भूमियों की विवेचना करने के बाद श्रद्धा कहती है।

ज्ञान दूर कुछ क्रिया भिन्न है
इच्छा क्यों पूरी हो मन की
एक दूसरे से न मिल सकें
यह विडम्बना जीवन की।

विश्व-जीवन की यही सनातन समस्या है। यदि मनुष्य इच्छा और कर्म तथा ज्ञान के सामञ्जस्य से जीवन यापन करे तो दुःखों की सम्भावनायें न रह जायँ किन्तु ऐसा होता नहीं। श्रद्धा अपनी

मधुर मुस्कान से इन तीनों का समन्वय कर देती है और मनु इस चेतना की जागरूकता में तन्मय हो जाता है। मनु की एकाधिक भूलों को भुलाकर क्षमाशील श्रद्धा उसे अपने स्नेह से इस स्थिति में पहुँचा देती है, यही उसकी महानता है। शक्ति की साहस पर विजय है और पौरुष का नारीत्व में विलीनन।

इस प्रकार श्रद्धा, समर्पण, मिलन, मातृत्व तथा विरह की क्रमिक सीढ़ियों से चढ़ती हुई जीवन की चरम सफलता पुनर्मिलन तक पहुँचती है और फिर—

जीवन वसुधा समतल है
समरस है जो कि जहाँ है

और श्रद्धा अपनी साधना में सिद्ध साधिका की भाँति—

वह कामायनी जगत की
मंगल कामना अकेली,
थी ज्योतिष्मती प्रफुल्लित
मानस तट की वन बेली।
जिस मुरली के निस्वन से
यह शून्य रागमय होता,
वह कामायनी विहँसती
अग जग था मुखरित होता।

श्रद्धा के जीवन के इस परिचय से स्वभावतः मानवमात्र का मन उसके प्रति श्रद्धा से भर आता है। जीवन की कठोरता और मनु की निर्ममता के बीच में वह अपनी साधना तथा सहृदयता से जीवन की चरम सिद्धि और अलौकिक आनन्दानुभूति की ओर सतत प्रयत्नशील रहती है, यथा ही कठोर शिलामय पर्वतों के बीच में शीतल सरिता। वास्तव में श्रद्धा नारीत्व का पूर्ण विकास

कामायनी

है, उसके जीवन में सौन्दर्य, स्नेह तथा साधना का जो समन्वय है वह स्तुत्य है। क्योंकि सौन्दर्य की बोधगम्यता, स्नेह की सहजता और साधना की साहसिकता का श्रद्धा में इतना समुचित सामञ्जस्य है कि मंगल कामना तथा शान्ति की भावना उसकी सहज सहचरी बन जाती है।

श्रद्धा के स्मरण मात्र से अनायास जैसे हम सब मुखरित हो उठते हों—

> नारी तुम केवल श्रद्धा हो
> विश्वास रजत नग पग तल में,
> पीयूष स्रोत सी बहा करो
> जीवन के सुन्दर समतल में।

[इड़ा]

जिस प्रकार श्रद्धा अनन्त करुणामयी है उसी प्रकार इड़ा अनन्त प्रेरणामयी है। श्रद्धा यदि कोमल है तो इड़ा परुष, श्रद्धा हृदय की रागात्मक प्रवृत्तियों की प्रतीक है तो इड़ा बुद्धि की तर्कमयी प्रवृत्तियों की पोषक। श्रद्धा भावनात्मक है, इड़ा विचारात्मक।

श्रद्धा को छोड़ कर अपनी अतृप्त वासना की पूर्ति के लिये जब मनु सारस्वत देश की ओर चला तब उसके मन की ग्लानि से श्रद्धा की जीवन झाँकी और भी स्वच्छ-सजीव हो उठती है। उसके मन में तरह-तरह की पश्चाताप भावनायें उठतीं और विलीन होती हैं, यथा वायु-प्रकंपन से प्रदोलित सागर में अनेक तरंगे। कभी वह सोचता है कि वह मरुत के समान अबाध गति चाहता है कभी वह सोचता है कि उसका कुछ दोष नहीं, संसार के प्रत्येक परिवर्तन में अनंग की आकुलता का आवेग रहता है, फिर सोचता है, जो भी हो अब तो कोई उपाय भी अवशिष्ट नहीं है। इस प्रकार

निज निर्मित पथ का पथिक मनु प्राची के अनुराग-राग से रंजित प्रभात वेला में इड़ा को देखता है—

बिखरी अलकें ज्यों तर्क जाल
वह विश्व मुकुट सा उज्ज्वलतम शशि खंड सदृश था स्पष्ट भाल
दो पद्म पलाश चषक से दृग देते अनुराग विराग ढाल
गुंजरित मधुप से मुकुल सदृश वह आनन जिसमें भरा गान
वक्षस्थल पर एकत्र धरे संसृति के सब विज्ञान ज्ञान
था एक हाथ में कर्म कलश वसुधा जीवन रस सार लिये
दूसरा विचारों के नभ को मधुर अभय अवलंब दिये
त्रिवली थी त्रिगुण तरंगमयी आलोक वसन लिपटा अराल
चरणों में थी गति भरी ताल।

कवि इड़ा के प्रथम दर्शन से ही उसकी बौद्धिकता का संकेत कर देता है, क्योंकि उसकी आँखों में अनुराग-विराग की भावना है और हृदय में कर्म और विचारों का अस्तित्व है और वह गतिमयी तथा तरंगमयी है। अपने मन-कमल को अपनी मधु विकासी हुई हैमवती छाया इड़ा, मनु के सामने मनु के परिचय-प्रश्न का उत्तर इस प्रकार देती है—

प्रतिभा प्रसन्न मुख सहज खोल।
वह बोली, मैं हूँ इड़ा, कहो तुम कौन यहाँ पर रहे डोल।

कवि ने 'प्रतिभा प्रसन्न' कह कर इड़ा की बौद्धिकता का बहुत ही सुन्दर परिचय दिया है। उसके इस प्रश्न से मनु की गर्वीली नाक फड़क उठी और उसने करुणा उभाड़ने की चेष्टा से कहा—

मनु मेरा नाम सुनो बाले मैं विश्व पथिक सह रहा क्लेश।

इड़ा शीघ्र ही बिना कुछ और पूछे बोल पड़ती है—

स्वागत! पर देख रहे हो तुम यह उजड़ा सारस्वत प्रदेश।

कामायनी

भौतिक हलचल से यह चंचल हो उठा देश ही था मेरा।
इसमें अब तक हूँ पड़ी इसी आशा से आये दिन मेरा।

श्रद्धा ने भी सहज समर्पण किया था, किन्तु उसमें त्याग की भावना थी और इड़ा के स्वागत में कार्य-सिद्धि की। श्रद्धा अपना हृदय बसाना चाहती थी और इड़ा अपना देश। श्रद्धा यदि श्रद्धा थी तो इड़ा साध।

नूतनता का लोभी मनु तुरन्त कह देता है—

मैं तो आया हूँ देवि बता दो जीवन का क्या सहज मोल!
भव के भविष्य का द्वार खोल।

मनु की इस अबोधता के स्वाँग से शून्यलोक हँस पड़ा, किन्तु मनु को इसका क्या पता? उसने सोचा—उसके लिये सुख साधन का द्वार खुल गया। इसी स्थिति में इड़ा ने उसे अपने देश-हित कार्य साधन की प्रेरणा की। मनु ने उसे स्वीकार कर लिया और—

मनु का नगर बसा है सुन्दर सहयोगी हैं सभी बने।

जिसमें—

इड़ा ढालती थी वह आसव जिसकी बुझती प्यास नहीं।
तृषित कंठ को पी पी कर भी जिसमें है विश्वास नहीं।

सम्भवतः मनु इसीलिये इड़ा से पूछता है—

और अभी कुछ करने को है शेष यहाँ?
बोली इड़ा, "सफल इतने में अभी कर्म सविशेष कहाँ?
क्या सब साधन स्ववश हो चुके"? "नहीं अभी मैं रिक्त रहा—
देश बसाया पर उजड़ा है सूना मानस देश यहाँ।

मनु की इसी सूनेपन की पूर्ति-भावना से संघर्ष प्रारम्भ होता है। इड़ा प्रश्न करती है। तर्क-वितर्क बुद्धि का स्वभाव है—

प्रजा तुम्हारी तुम्हें प्रजापति सब का ही गुनती हूँ मैं।
यह सन्देह भरा फिर कैसा नया प्रश्न सुनती हूँ मैं॥

कहना नहीं होगा कि इस प्रश्न में किसी प्रकार के स्नेह की सरलता की अपेक्षा मस्तिष्क की उत्सुकता का ही आधिक्य है। जब मनु किसी प्रकार भी इड़ा को अपनी रानी बनाये बिना नहीं रह पाता और अपने एकान्त आधिपत्य की चेष्टा करता है तब इड़ा उससे विषादमय शब्दों में कहती है—

किन्तु नियामक नियम न माने
तो फिर सब कुछ नष्ट हुआ सा निश्चय जाने।
मनु यह शासन स्वत्व तुम्हारा सतत निबाहे,
तुष्टि, चेतना का क्षण अपना अन्य न चाहे!
आह प्रजापति यह न हुआ है, कभी न होगा
निर्वाधित अधिकार आज तक किसने भोगा।

बुद्धिवादी कभी किसी के निर्बाधित अधिकार की कल्पना नहीं कर सकता। वह सरस सम्बन्धों की अपेक्षा गतिशील मानव की भावनाओं का पूर्ण परीक्षण करना चाहता है। इड़ा भी मनु की मानसिक प्रवृत्तियों का अवगाहन और उसके कर्तव्यों का निर्धारण करना चाहती है। वह साधारण नारी की भाँति तर्क रहित व्यवस्था पर अपनी आस्था नहीं रखती, वह तो जीवन के प्रतिपल की बौद्धिक विवेचना चाहती है। लेकिन मनु तो केवल वह चाहता है जो उसे चाहिये, और कुछ नहीं। तब बुद्धि (इड़ा) उस दुर्बुद्धि (मनु) को साहस के साथ सचेतन करना चाहती है—

प्रकृति संग संघर्ष सिखाया तुमको मैंने
तुमको केन्द्र बनाकर अनहित किया न मैंने।

× ×

मनु ! देखो यह भ्रान्त निशा अब बीत रही है
प्राची में नव उषा तमस को जीत रही है।

इतना कहने के पश्चात् ज्योंही इड़ा ने द्वार की ओर अपने पैर बढ़ाये कि मनु ने उसे अपनी वासना-विह्वल भुजाओं में बाँध लिया। उसी समय मनु के अत्याचार से क्षुभित प्रजा भीतर घुस आई और मनु से युद्ध किया। इड़ा की इस समय एक विचित्र स्थिति थी। नारी की सहज ममता मनु के प्रति अपना एक आकर्षण रखती थी, किन्तु उसकी बुद्धि एक नियमित आक्रोप। वह युद्ध का शमन और मनु के गर्भ का दमन दोनों चाहती है। इधर नारी की करुण-महत्ता श्रद्धा, मनु के वियोग से विगलित उसे खोजते हुये सारस्वत देश पहुँचती है। ग्लानि, घृणा, ममता की चिंतना में समय बिताती हुई इड़ा दूरागत ध्वनि से चौंक उठा और पास जाकर दयापूर्ण भावना से पूछा—

तुमको विसराया किसने?
इस रजनी में कहाँ भटकती
जाओगी तुम बोलो तो
बैठो आज अधिक चंचल हूँ
व्यथा गाँठ निज खोलो तो।
जीवन की लम्बी यात्रा में
खोये भी हैं मिल जाते
जीवन है तो कभी मिलन है
कट जाती दुख की रातें।

इड़ा की यह सुख-दुख तथा विरह-मिलन की व्याख्या विचारात्मक है भावात्मक नहीं। जब श्रद्धा और मनु मिल जाते हैं तब इड़ा कुछ संकुचित हो जाती है जैसे वह जीवन में केवल बुद्धि तत्व की पराजय की साकार प्रतिमा हो। मनु भी कहता है कि—

आकर्षण घन सा बिखरे जल,
निर्वासित हो संताप सकल,
कह इड़ा प्रणत हो चरण धूम
पकड़ा कुमार-कर मृदुल धूम।

इड़ा और कुमार के इस सहयोग में हृदय तथा बुद्धि तत्व का सम्मेलन कराया गया है। संसार में सुख तथा शान्ति प्राप्ति का साधन भी यही समन्वय है, जिसकी सिद्धि निश्चय ही श्रद्धा की साधना के माध्यम से होती है। श्रद्धा और मनु को लौटते न देखकर इड़ा और कुमार भी मनु तथा श्रद्धा की खोज में निकल पड़ते हैं। उनके पास पहुँच कर उनके आनन्द में ये भी निमग्न हो जाते हैं। इड़ा के इस चित्र से ऐसा भ्रम होने लगना सहज सम्भव है कि प्रसाद जी बुद्धि तत्व की पराजय दिखलाने के लिये इड़ा के प्रति कुछ कम उदार रहे हैं किन्तु बात ऐसी है नहीं। प्रसाद जी स्वयं बहुत बड़े विचारक थे। इस काव्य का रूपक उनकी विचार तथा बुद्धि-प्रतिभा का उज्ज्वल उदाहरण है, किन्तु ये बुद्धि के इस विकास पर पहुँच कर भी हमें यह बताना नहीं भूलते कि केवल बुद्धि-तत्व जीवन को एक ऐसी थकान देता है जो मनु को इड़ा के साथ मिली। अखंड आनन्द की सृष्टि प्रसाद ने तब की है जब श्रद्धा, मनु तथा इड़ा और कुमार सभी आकर एक ऐसी स्थिति में एकत्र होते हैं जहाँ उन्हें एक दूसरे के प्रति पूर्ण सहानुभूति और विश्वास है। प्रसाद की जीवन के प्रति यही सब से बड़ी खोज है। कामायनी में मन (मानव) का भावना (श्रद्धा) के साथ परिष्करण कराके कवि उसे इड़ा (बुद्धि) का सहयोग भी प्राप्त कराता है, क्योंकि बुद्धिहीन अंध भावना और श्रद्धाहीन पंगु चेतना संसार में सफलता नहीं पा सकती। जीवन की सुचारुता तो इन दोनों के समुचित सहयोग में है। प्रसाद जी को संपूर्ण भारतीय साहित्य

का विशेष ज्ञान था किन्तु वह जीवन-दर्शन में बुद्ध से अधिक प्रभावित थे। एक भक्त की भाँति नहीं एक विचारक की भाँति। विश्व-प्रेम और उनकी अनन्त करुणा का उत्स वहीं से होता है, किन्तु वे बुद्ध के बुद्धिजन्य शून्यवाद पर विश्वास नहीं करते क्योंकि उनके विचार से बुद्धि ही द्विविधा और द्वन्द को बढ़ाने वाली है। इस प्रकार साहित्य में, जीवन में और जगत में वे एक प्रकार का सामञ्जस्य चाहते हैं, जो विश्व कल्याण के लिये आवश्यक है। कामायनी से स्पष्ट है कि मनु (मन) के लिये इड़ा और श्रद्धा, शरीर और आत्मा की भाँति पूरक हैं। इड़ा के स्वरूप को प्रसाद जी ने कुछ कठोरता अवश्य दे दिया है, किन्तु कारण सम्भवतः यह था कि वे नारी की ममतामयी वात्सल्य-भावना की ही स्थापना काव्योचित ढंग से करना चाहते हैं। शाश्वत नारीत्व में श्रद्धामय सहज समर्पण, विश्लेषण और तर्कमयी बुद्धि-विवेचना से अधिक महत्व रखता है, यह निर्विवाद है। यदि रूपक की भाषा में कहें तो कहना होगा कि प्रत्येक मानव हृदय में आनन्द की अनुभूति तभी उदय होगी जब वह जीवन की स्वच्छता (हिमालय) पर इड़ा (बुद्धि) के द्वारा सजाये हुये श्रद्धा (हार्दिकता) के कमनीय कुञ्ज में विश्व प्रेम की भावना में तल्लीन हो जाय, अन्यथा नहीं। मनु के सुख तथा आनन्द की साधिका श्रद्धा और इड़ा दोनों हैं। दोनों जीवन की पूर्णता में सहायक हैं, न कोई किसी से कम न कोई किसी से अधिक। इतना अन्तर अवश्य है कि श्रद्धा यदि मनु के जीवन की तृप्ति है तो इड़ा तृष्णा, किन्तु तृष्णा की तीव्रता में ही तृप्ति का महत्व है, इसमें भी सन्देह नहीं। श्रद्धा की उत्साहमयी सहृदयता तथा इड़ा की निर्देशमयी सतर्कता से ही मनु के जीवन की लक्ष्य सिद्धि होती है।

एकपरिचय

इस प्रकार हम देखते हैं कि मनु का जीवन-प्रवाह जब तक श्रद्धा (भावना) तथा इड़ा (बुद्धि) के युगल कगारों से मर्यादित नहीं होता तब तक उसमें स्वच्छता और सतत गतिशीलता नहीं आती। वह समतल भूमि के जल के समान वायु के विषम कम्पन का अनजान अनुसरण करता रहता है, जिसमें न सुख है और न शान्ति। प्रत्येक मानव-जीवन का संचालन इसी गति-विधि से होता है। जो व्यक्ति श्रद्धा की शक्ति और बुद्धि का वैभव लेकर जीवन-पथ में अग्रसर होगा उसकी सफलता निश्चित है, किन्तु जो इनमें से केवल किसी एक का आधार ग्रहण करेगा उसे मनु की भाँति अंधकार में अवश्य ही भटकना पड़ेगा और वह—

> व्यक्ति चेतना इसीलिये परतंत्र बनी थी
> रागपूर्ण, पर द्वेष पंक में सतत सनी सी!

वाली उक्ति का अधिकारी होगा। अस्तु, जीवन की सार्थकता सुचारुता और सफलता के लिये भावना तथा बुद्धि के समुचित सहयोग की अतीव आवश्यकता है, यह स्मरण रखना होगा। तभी—

> वरदान बने फिर उसके
> आँसू, करते जग मंगल,
> सब ताप शांत होकर, बन
> हो गया हरित सुख शीतल!

कामायनी का पुरुष

कात्यायनैः

[मनु]

मनु आदि देव-मानव हैं, मानवता की परम्परा का पिता। वह एक आदि विशाल वट वृक्ष है जिसकी शाखा-प्रतिशाखा मानवता के रूप में बराबर बढ़ती और उलझती चली जाती है। उसमें मानव के सभी गुणों-अवगुणों का स्वरूप हमें मिलता है। आज के मानव के पास ऐसा कुछ नहीं जो मनु के पास नहीं था। मनु, मानव की शाश्वत भावनाओं का प्रतीक है, न पशु से अधिक और न देवता से कम। वह जीवन के आदर्श के प्रति आस्था रखता है और यथार्थ के प्रति आकर्षण। कवि ने इसीलिये उसे कला जगत में भ्रमण कराया है और वस्तु जगत में विचरण। मनु के यथार्थ, आदर्श का दृष्टि-पथ कवि का अपना दृष्टिकोण भी प्रकट कर देता है, यह स्मरण रखना चाहिये। प्रसाद न तो कोरे आदर्शवादी हैं और न केवल यथार्थवादी, वे तो यथार्थ की अभिव्यक्ति आदर्श की चेतना के साथ करना चाहते हैं। अपनी इस भावना का प्रतिपादन मनु के द्वारा उन्होंने बहुत ही सफलता से किया है। कामायनी काव्य की जितनी भी जीवन सम्बन्धी मार्मिक और अनुभूत उक्तियाँ हैं, वे प्रायः सभी मनु महाराज के मुख से ही निकली हैं। मनु के जीवन का एक अध्याय हमें प्रसाद की 'कामना' में मिलता है, 'कामायनी' जैसे उसी का विस्तृत रूप हो। अन्तर केवल इतना है कि 'कामना' में जीवन की अपेक्षा सिद्धान्तों की विवेचना है और 'कामायनी' में सिद्धान्तों की अपेक्षा जीवन, की। मनु का सारा व्यक्तित्व जीवन की पकड़ की चेष्टा में उभरता है। कवि ने मनु की प्रतिष्ठा प्रथम बार इस प्रकार किया है—

एकपरिचय

हिम गिरि के उत्तुंग शिखर पर
बैठ शिला की शीतल छाँह,
एक पुरुष भीगे नयनों से
देख रहा था प्रलय प्रवाह।

यद्यपि मनु के नेत्र भीगे थे किन्तु वह था पुरुष। तपस्वी की भाँति बैठा हुआ उसे देखिये—

अवयव की दृढ़ मांस-पेशियाँ,
ऊर्जस्वित था वीर्य अपार,
स्फीत शिराएँ स्वस्थ रक्त का
होता था जिनमें संचार।

किन्तु उसका मुख चिंता से उदास था। वह सोच रहा था, जैसे अपनी चिंता से कह रहा हो—

अरी पाप है तू, जा चल जा

अपनी मानसिक चिंता से वह इतना भयभीत हो उठता है कि उसे कहना पड़ता है—

विस्मृति आ, अवसाद घेर ले,
नीरवते बस चुप कर दे,
चेतनता चल जा, जड़ता से
आज शून्य मेरा भर दे।

मनुष्य के लिये यह स्वाभाविक है कि वह अपनी चिंता की थकान से ऊब कर जड़ता का वरदान चाहे, क्योंकि चेतना ही चिंता की जननी है। मनु अतीत के देव-सुख की जितनी ही चिंता करता है उतनी ही भविष्य-दुःख की रेखाएँ उसके सामने अंकित होती जाती हैं। तब वह कहता है—

आह सर्ग के अग्रदूत तुम
असफल हुये विलीन हुये,
भक्षक या रक्षक जो समझो
केवल अपने मीन हुये।

इस प्रकार मनु के देव-सृष्टि की विनाश-वृत्तियों पर बहुत क्षोभ है और वह अपने लिये कहता है—

आज अमरता का जीवित हूँ
मैं वह भीषण जर्जर दम्भ।

अपने साथ सर्व विनाशिनी मृत्यु का भी मनु स्मरण करता है—

तेरी ही विभूति बनती है
सृष्टि सदा होकर अभिशाप।

अंधकार के अट्टहास सी
मुखरित सतत चिरंतन सत्य,
छिपी सृष्टि के कण कण में तू
यह सुन्दर रहस्य है नित्य।

किन्तु मनु की ये युक्तियाँ सुनने वाला कौन था? उसके शब्दों को पवन पी जाता था और उनकी प्रतिध्वनि हिम-शिलाओं से टकराती थी। दुःख के पश्चात् सुख तथा रुदन के पश्चात् हास जैसे विश्व का विधान है। इसी के अनुसार मनु को भी उस भयंकर ग्लानि और चिंता के उपरान्त एक आशा का आश्वासन मिला और उस प्रलय-निशा का प्रभात हुआ—

उषा सुनहले तीर बरसती
जय-लक्ष्मी सी उदय हुई,
उधर पराजित काल रात्रि भी
जल में अंतर्निहित हुई।

मनु को ज्ञान हुआ कि संसार में सभी प्राणी केवल परिवर्तन के पुतले हैं। इस परिवर्तन की कल्पना के साथ मनु का मन इसके कारण की खोज में व्यस्त हो जाता है—

तृण वीरुध लहलहे हो रहे
किसके रस से सिंचे हुये ?
सिर नीचा कर किसकी सत्ता
सब करते स्वीकार यहाँ
सदा मौन हो प्रवचन करते
जिसका, वह अस्तित्व कहाँ ?

कार्य-कारण की इस स्थिति में एक सत्ता का स्वीकार करना भी स्वाभाविक है! मनु भी एक ऐसी शक्ति की कल्पना कर लेता है जो इस विश्व के परिवर्तनों की परिचालिका है। मानव आस्था का यही क्रम विकास है। मनु कहने लगता है—

हे विराट! हे विश्वदेव! तुम
कुछ हो ऐसा होता भान,
मंद गंभीर धीर स्वर संयुत
यही कर रहा सागर गान।

इस प्रकार मनु ने अपनी भावनाओं के अनुकूल एक व्यापक सत्ता की स्थापना की और फिर उससे लाभान्वित होने की बात सोचने लगा। मनुष्य, ईश्वर की अनिवार्य-कल्पना सम्भवतः अपनी प्रवृत्तियों के ऐसे ही आधारों के लिये करता है। आदि काल में वासना या भाव के इन्हीं आधारों पर आध्यात्मिक शक्ति की नींव खड़ी हुई है—

'अनन्य ममता किसकी ममता प्रेम संगता' से ही भगवान की भावना का प्रादुर्भाव हुआ, इसमें सन्देह नहीं। इसी भावना के साथ, इसी सुख-सम्भावना के साथ, व्यक्ति के जीवन के प्रति और

भी उत्पन्न होता है, क्योंकि सुख-साधन तथा आनन्द-अनुभूति का माध्यम तो जीवन ही है ! मनु ने सोचा—

जीवन की लालसा आज क्यों
इतनी प्रखर विलासमयी ?
तो फिर क्या मैं जिऊँ और भी
जीकर क्या करना होगा,
देव बता दो, अमर वेदना
लेकर कब मरना होगा।

और इस प्रश्न की उत्तर-प्रतीक्षा में उसने तप में अपना जीवन व्यतीत करना प्रारम्भ कर दिया। और सोचने लगा कि—

जैसे हम हैं बचे हुये
क्या आश्चर्य और कोई हो,
जीवन लीला रचे हुये ।

अग्नि होत्र अवशिष्ट अन्न कुछ
कहीं दूर रख आते थे,
होगा इससे तृप्त अपरिचित
समझ सहज सुख पाते थे।

अहं की कल्पना के साथ यदि मनुष्य किसी दूसरे व्यक्ति की कल्पना न करे तो उसके अहं की भावना का कुछ प्रतिफल नहीं सम्भव होता, क्योंकि हम अपने को दूसरों के सम्बन्ध की क्रिया-प्रतिक्रिया से ही समझते हैं, अकेले हमारा क्या मूल्य ? मनु ने भी 'और कोई' की कल्पना कर ली। दूसरे किसी की कल्पना मात्र से मनु उससे किसी न किसी प्रकार सम्बन्धित होने की बात सोचने लगता है। उसका मन अकेलेपन से ऊब जाता है—

नव हो जगी अनादि वासना
मधुर प्राकृतिक भूख समान

चिर परिचित-सा चाह रहा था,
द्वन्द्व सुखद करके अनुमान।

कब तक और अकेले ! कह दो
हे मेरे जीवन बोलो !
किसे सुनाऊँ कथा ! कहो मत
अपनी निधि न व्यर्थ खोलो।

मनु की इसी उत्कंठा में उन्हें श्रद्धा के दर्शन होते हैं और वह अचानक उसके प्रश्न से चौंक उठता है—

एक झिटका सा लगा सहर्ष,
निरखने लगे लुटे से, कौन !

उसने श्रद्धा के सुन्दर स्वरूप को इस प्रकार देखा—

कुसुम कानन-अंचल में मंद
पवन प्रेरित सौरभ साकार,
रचित परमाणु पराग शरीर
खड़ा हो ले मधु का आधार।

इस सौन्दर्य-दर्शन से मनु का मन खुश हो गया और वह अपनी कवित्वमय भाषा में बोल उठा—

शैल निर्झर न बना हतभाग्य
गल नहीं सका जो कि हिम खंड,
दौड़ कर मिला न जलनिधि अंक
आह वैसा ही हूँ पाखंड

एक विस्मृति का स्तूप अचेत
ज्योति का धुँधला सा प्रतिबिम्ब
और जड़ता की जीवन राशि
सफलता का संकलित विलम्ब।

आशापूर्ण

इस ग्लानिमय और आत्म-कदर्थनामय परिचय से मनु अपनी निरीहता की ओट से श्रद्धा की ममता तथा समवेदना उभाड़ने की चेष्टा करता है। अकेलेपन से ऊबा हुआ कोई व्यक्ति और क्या करता? अब मनु श्रद्धा के विषय में कितनी मृदुलता से प्रश्न करता है—

कौन हो तुम वसंत के दूत
विरस पतझड़ में अति सुकुमार,
घन तिमिर में चपला की रेख
तपन में शीतल मन्द बयार।
नखत की आशा किरण समान
हृदय के कोमल कवि की कांत,
कल्पना की लघु लहरी दिव्य
कर रही मानस हलचल शांत।

इस प्रश्न में मनु के मन की सारी उत्सुकता साकार सी हो उठी है। इसे उसका रूप-लोभ भी कह सकते हैं। परिचय के अनन्तर श्रद्धा मनु की उदासीनता को दूर करने की चेष्टा करती है, किन्तु मनु कहता है—

किंतु जीवन कितना निरुपाय
लिया है देख नहीं संदेह,
निराशा है जिसका परिणाम
सफलता का वह कल्पित गेह।

जीवन की यह परिभाषा आज तक चरितार्थ होती है। श्रद्धा, मनु की इस निराशा का आवरण हटाने के लिये उसकी सहचरी बनने को प्रस्तुत हो जाती है और जीवन तथा जगत के प्रति ममता का आग्रह करती है। मनु की सोई हुई सारी वासना जग पड़ती है और वह काम-विह्वल होकर सोचने लगता है—

कौशल यह कोमल कितना है
सुषमा दुर्भेद्य बनेगी क्या !
चेतना इन्द्रियों की मेरी
मेरी ही हार बनेगी क्या !

तब उसे काम की ध्वनि सुनाई पड़ती है और उसे ऐसा आभास होता है कि—

दो अपरिचित से निकट अब चाहते थे मेल।

मनु के हृदय में मिलन-माधुरी-भावना के साथ श्रद्धा के सरल परस की भी इच्छा जग पड़ी। मनु उस रूप-सुषमा-दर्शन से कुछ शान्त हुआ। और कहने लगा—

वासना की मधुर छाया स्वास्थ्य बल विश्राम
हृदय की सौन्दर्य प्रतिमा कौन तुम छवि धाम !
कामना की किरन का जिसमें मिला हो ओज
कौन हो तुम इसी भूले हृदय की चिर खोज !

इस प्रकार श्रद्धा को 'वासना की मधुर छाया' कह कर मनु अपनी ही वासना का परिचय देता है, सम्भवतः मानव के पास एक नारी से मिलने का और कोई माध्यम भी नहीं है ? इसीलिये तो उसे आदि काल से किसी ने 'वासना की छाया' और किसी ने 'वासना की पुतली' कहा है। पुरुष अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति से ही किसी सम्बन्ध को केवल अपनी इच्छा-पूर्ति के साधन स्वरूप स्थापित करना चाहता है, क्योंकि सहज समर्पण उससे सम्भव नहीं होता, यह तो नारी की ही महिमा है। इसीलिये कहा गया है कि नारी हृदय है और पुरुष मस्तिष्क। हृदय सहृदयता तथा संवेदन से आकर्षित होता और मस्तिष्क तर्क तथा स्वार्थ से। नारी भाव प्रधान होती है और पुरुष ज्ञान प्रधान। इसी कारण नारी में

निर्माण की क्षमता है पुरुष में विध्वंस की विह्वलता। अस्तु, मनु ने अपने स्वार्थ की प्रेरणा से कहा—

'मैं तुम्हारा हो रहा हूँ', यही सुदृढ़ विचार
चेतना का परिधि बनता घूम चक्राकार
× × ×
तुम समीप अधीर इतने आज क्यों हैं प्राण ?
छक रहा है किस सुरभि से तृप्त होकर घ्राण ?
आज क्यों सन्देह होता रूठने का व्यर्थ ?
क्यों मनाना चाहता सा बन रहा असमर्थ ?

अपने मन की अधीर अतृप्ति और क्षोभयुक्त उन्माद के साथ मनु फूट पड़ता है—

प्रलय में भी बच रहे हम फिर मिलन का मोद
रहा मिलने को बचा सूने जगत की गोद,
ज्योत्स्ना सी निकल आई पार कर नीहार
प्रणय विधु है खड़ा नभ में लिये तारक हार।
× × ×
चन्द्र की विश्राम राका बालिका सी कांत
विजयिनी सी दीखती तुम माधुरी सी शांत
पद दलित सी थकी व्रज्या सदा आक्रांत
शस्य श्यामल भूमि में होती समाप्त अशांत
आह वैसा ही हृदय का बन रहा परिणाम
पा रहा हूँ आज देकर तुम्हीं से निज काम,
आज ले लो चेतना का यह समर्पण दान
विश्व रानी ! सुन्दरी नारी जगत की मान।

स्मरण रखना चाहिये कि मनु का यह समर्पण जीवन के बीच में शक्ति का शुद्ध स्वरूप लेकर नहीं हुआ, क्योंकि उसकी कामुकता

तथा विलासिता की भावना इसमें स्पष्ट लक्षित होती है। मनु का प्रेम अकेलेपन की ऊब और शारीरिक लालसा का फल है, जिसमें कभी स्थायित्व नहीं रह सकता। जो भी हो, मनु और श्रद्धा दोनों प्रेम के बन्धन में बँध कर साथ रहने लगते हैं। मनु अपनी वासना पूर्ति के पश्चात् श्रद्धा से कुछ उदास सा हो जाता है। शारीरिक विलास मनुष्य को जल्दी ही थका देता है, यदि मनु को ऐसा हुआ तो आश्चर्य ही क्या? मनु कर्म-यज्ञ की कामना करता है और उसे असुर पुरोहितों से प्रेरणा भी मिल जाती है। ये असुर पुरोहित मानो मनु की ही आसुर प्रवृत्तियों के प्रतीक हैं। मनु सोचता है—

कर्म यज्ञ से जीवन के
सपनों का स्वर्ग मिलेगा,
इसी विपिन में मानस की
आशा का कुसुम खिलेगा।

मनु यज्ञ में प्रवृत्त होने के प्रथम यह भी मान बैठा कि—

एक विशेष प्रकार कुतूहल
होगा श्रद्धा को भी,

और उसका मन 'प्रसन्नता से नाच उठा।' फिर क्या था सब यज्ञ के सामान जुटाने लगे। सोम पात्र और पुरोडाश आदि सब कुछ इकट्ठा था किन्तु श्रद्धा वहाँ नहीं थी। अतः मनु सोचने लगा—

जिसका था उल्लास निरखना,
वही अलग जा बैठी,
यह सब क्यों? फिर दृप्त वासना
लगी गरजने ऐंठी।
जिसमें जीवन का संचित सुख
सुन्दर मूर्त बना है,

हृदय खोलकर कैसे उसको
कहूँ कि वह अपना है।

पुरुष, स्त्री की किसी स्वतंत्र सत्ता की कल्पना नहीं करता, उसे वह अपनी छाया मात्र मानता है। स्त्री यदि उसके कार्यों का विरोध करे तो वह उसे शीघ्र अपने से दूर फेंक देना चाहता है। यही विचार मनु से लेकर आज तक प्रत्येक पुरुष के हैं। मनु श्रद्धा की कुछ भी चिंता न करके—

पुरोडाश के साथ सोम का
पान लगे मनु करने,
लगे प्राण के रिक्त अंश को
मादकता से भरने।

इस प्रकार मनु के मन में तरल वासना और मादकता के मेल से एक ऐसी विकृत भावना का उदय हुआ कि वह श्रद्धा के पास जाकर कहने लगा—

आकर्षण से भरा विश्व यह
केवल भोग्य हमारा,
जीवन के दोनों कूलों में
बहे वासना की धारा।

और इस जगत के अभाव तथा परिश्रम के परिहार के लिये वह श्रद्धा को भी मधु-सेवन की उपयोगिता बताकर आग्रह करने लगा—

देवों को अर्पित मधु मिश्रित
सोम अधर से छू लो,
मादकता दोला पर प्रेयसि!
आओ मिलकर झूलो।

आज के युग में भी मधु-प्रेमी पतियों से उनकी पत्नियों को ऐसी आग्रहमयी अभिलाषायें बराबर प्रदर्शित की जाती हैं और

यही गृह-सुख की सात्विकता का विनाश-कारण भी बनती है। श्रद्धा बारबार मनु को पशु-बलि और मधु-सेवन न करने की बात कहती और समझाती है किन्तु वह कहता है—

> तुच्छ नहीं है अपना सुख भी
> श्रद्धे वह भी कुछ है,
> दो दिन के इस जीवन का तो
> वही चरम सब कुछ है।

अपनी स्वार्थ-साधना तथा वासना-तृप्ति के लिये जीवन की क्षणिकता का उपदेश मनु की मानसिक दशा का सुन्दर स्पष्टीकरण है। आगे वह कहता है—

> श्रद्धे पी लो इसे बुद्धि के
> बंधन को जो खोले।

मनु का विचार है कि मधु, बुद्धि के बंधन ढीले कर देती है, वास्तव में यह परामर्श मूर्खता पूर्ण है। मधु-सेवी पाठक मुझे क्षमा करें। तभी तो मनु भी कहता है कि—श्रद्धे, तुम इसे पी लो और फिर—

> वही करूँगा जो कहती हो
> सत्य अकेला सुख क्या!

उस समय का कवि ने एक सुन्दर चित्र दिया है। मनु को देखिये—

> आँखें प्रिय आँखों में, डूबे
> अरुण अधर थे रस में,
> हृदय काल्पनिक विजय में सुखी
> चेतनता नस नस में।

ऐसी स्थिति में मनु को 'श्रम (भागी) की अर्चना' ही संतोष दे सकती थी, श्रद्धा की स्नेहशील और सात्विक भावनाएँ नहीं।

कामायनी

'विनाशकाले विपरीतबुद्धिः' की भाँति मनु ने श्रद्धा की बात नहीं मानी और दिन प्रतिदिन उससे उदास तथा निराश रहने लगा। अब उसके लिये—

मनु को अब मृगया, छोड़ नहीं
रह गया और था अधिक काम,
लग गया रक्त था उस मुख में
हिंसा-सुख लाली से ललाम।

हिंसा ही नहीं और कुछ भी
वह खोज रहा था मन अधीर,
अपने प्रभुत्व की सुख सीमा
जो बढ़ती हो अवसाद चीर।

अपने प्रभुत्व की सीमा को विस्तृत करने की इच्छा ने मनु के मन को उद्वेलित कर दिया। उसको सब प्राप्त वस्तुयें व्यर्थ सी जान पड़ने लगीं। उसकी लालसा ने अपने विस्तार की छलनामयी आकाँक्षाओं से उसको पूर्णतया आच्छादित कर लिया। स्वभावतः श्रद्धा का मन भी खिन्न हो गया और उधर मनु ने सोचा कि—

चिर मुक्त पुरुष वह कब इतने
अवरुद्ध श्वास लेगा निरीह
गति हीन पंगु सा पड़ा-पड़ा
ढह कर जैसे बन रहा डीह।

और श्रद्धा से उदास-हँसी भरे शब्दों में कहने लगा—

वह आकुलता अब कहाँ रही
जिसमें सब कुछ ही जाय भूल ?

× × ×

किस पर यह पीलापन कैसा
यह क्यों बुनने का श्रम सखेद ?

यह किसके लिये बताओ तो
क्या इसमें है छिप रहा भेद ?

श्रद्धा ने योंही कुछ कह कर टाल दिया और अपने भावी शिशु की कमनीय कल्पना में अपनी आत्म-विभोरता दिखलाने लगी, किन्तु जिस प्रकार पत्नी अपने पति के बालरूप पर उतना मुग्ध नहीं होती जितना उसके युवा रूप पर उसी प्रकार पुरुष कभी अपनी पत्नी के माँ-स्वरूप को उतना नहीं चाहता जितना उसके युवती रूप को। मनु के जैसे जले में नमक पड़ गया हो, वह ईर्ष्या, क्रोध और स्वार्थ-आघात से तिलमिला उठा और बोला—

तुम फूल उठोगी लतिका सी
कंपित कर सुख सौरभ तरंग
मैं सुरभि खोजता भटकूँगा
वन-वन बन कस्तूरी कुरंग।
× × ×
यह द्वैत अरे यह द्विविधा तो
है प्रेम बाँटने का प्रकार,

श्रद्धा के प्रति यह अकारण आरोप करता हुआ मनु उसे मायाविन, दानशील आदि व्यंगों से सम्बोधन करता हुआ ज्वलनशील अन्तर लेकर वहाँ से चला गया।

श्रद्धा को बिना किसी अपराध के अपनी वासनाओं के आवेश में छोड़कर मनु सारस्वत देश पहुँचा और उसे वहाँ इड़ा का साक्षात्कार हुआ। इड़ा से मिलने के पहिले उसे शान्ति भी होती है, क्योंकि मनुष्य में दैवी तथा दानवी प्रवृत्तियों का अस्तित्व बराबर रहता है, यह बात दूसरी है कि परिस्थिति विशेष के कारण कभी एक का और कभी दूसरी का प्राधान्य हो जाता है।

कामायनी

श्रद्धा से दूर होकर वह सोचता है कि वह जीवन-निशीथ के अंधकार में आ पड़ा है और उससे मुक्ति पाना कठिन है। वह यह अच्छी प्रकार समझ जाता है कि—

मुझ में ममत्वमय आत्म-मोह स्वातंत्र्यमयी उच्छृंखलता
हो प्रलय भीत तन रक्षा में पूजन करने की व्याकुलता।
सचमुच मैं हूँ श्रद्धा विहीन!

किसी वस्तु की उपयोगिता का पूर्ण ज्ञान मनुष्य को तभी होता है जब वह उससे दूर हो जाती है। मनु भा श्रद्धा के स्नेहशील हृदय का पता इस स्थिति में पाता है और कहता है—

मनु तुम श्रद्धा को गये भूल
उस पूर्ण आत्म विश्वासमयी को उड़ा दिया था समझ तूल
तुमने तो समझा असत विश्व जीवन धागे में रहा झूल
तुम भूल गये पुरुषत्व मोह में कुछ सत्ता है नारी की
सम रसता है संबंध बनी अधिकार और अधिकारी की।

मनु को अपनी इस निर्दयता की प्रतिक्रिया रूप में बहुत कष्ट होने लगा। वह अपने को कभी 'दुखमय चिर चिंतन का प्रतीक' और कभी 'श्रद्धा वंचक' और कभी 'अतिचारी' मानता हुआ अनेक प्रकार की आत्म-प्रताड़ना करता है, किन्तु अब क्या हो सकता था। अपने अभिमान की चेतना से न तो वह लौट सकता था और न उसे श्रद्धा के बिना कहीं शान्ति ही मिल सकती थी। जीवन की इसी विकट और भयावह अवस्था में उसने इड़ा को देखा और बहुत प्रसन्न हो उठा, यथा भीषण उष्णता से पीड़ित व्यक्ति सहसा मलय समीरण के संचरण से। उसने कहा 'अरे कौन'? इड़ा ने अपना परिचय दिया और मनु का परिचय पूछा। मनु का हृदय जैसे स्वयं बोल उठा—

मैं तो आया हूँ देवि बता दो जीवन का क्या सहज मोल?

इसके उपरांत वह इड़ा के साथ उसके कार्य-संचालन में सहायता देने के लिये उसके पास रह गया, किन्तु इससे मनु की तृप्ति कहाँ ? कुछ दिनों तक कार्य करने के बाद वह स्वयं उस देश का स्वामी बन बैठा और फिर इड़ा पर भी अपना अधिकार स्थापित करने की चेष्टा करने लगा। इसका फल यह हुआ कि मनु में और इड़ा में भी संघर्ष प्रारम्भ हो गया। मनु सोचता था—

इड़ा नियम परतंत्र चाहती मुझे बनाना
निर्वाधित अधिकार उसी ने एक न माना

किन्तु ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि—

मैं चिर बंधन हीन मृत्यु सीमा उल्लंघन—
करता सतत चलूँगा यह मेरा है दृढ़ प्रण।
महानाश की सृष्टि बीच जो क्षण हो अपना
चेतनता की तुष्टि वही है फिर सब सपना।

इस दृढ़ निश्चय के अनन्तर वह इड़ा से साफ शब्दों में कह देता है कि—

इड़े मुझे वह वस्तु चाहिये जो मैं चाहूँ
तुम पर हो अधिकार प्रजापति न तो वृथा हूँ।

* * *

देखो यह दुर्धर्ष प्रकृति का इतना कंपन
मेरे हृदय समक्ष क्षुद्र है इसका स्पंदन।

* * *

किन्तु आज हो रहो आपसे, मेरी हो तुम,
मैं हूँ कुछ खिलवाड़ नहीं जो अब खेलो तुम।

मनु को इस प्रकार से सावधान करते हुये इड़ा ने बड़ी समझाया, किन्तु वह तो मदांध हो एक अकल्पनीय दम्भ की भाँति

विनाश में ही विकास पाता रहा है फिर इड़ा की बात क्यों मानता ? वह क्रोध भरे शब्दों में कहने लगा—

मायाविनि बस पाली तुमने ऐसे छुट्टी
लड़के जैसे खेलों में कर लेते खुट्टी

× × ×

आज शक्ति का खेल खेलने में आतुर नर
प्रकृति संग संघर्ष निरन्तर अब कैसा डर।

इस पर इड़ा ने वहाँ से चले जाने की बात सोची, किन्तु मनु ने उसे अपनी सारी कामुक चेष्टाओं के साथ सशक्त बाँहों से जकड़ लिया और इड़ा का सारा क्रन्दन और छुड़ाने की इच्छा "फिर सब डूबा आहों में" परिणित हो गया। मनु के इस अनाचार से पीड़ित प्रजा भीतर घुस आई और मनु ने उससे शक्ति भर युद्ध किया। अन्त में वह आहत होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा। उसी समय श्रद्धा उसे खोजती हुई वहाँ पहुँची और मनु ने कहा—

श्रद्धा ! तू आ गयी भला तो
पर मैं क्या था यहीं पड़ा ?

उसका क्षोभ इतना उमड़ पड़ा कि उसने अपनी आँखें बन्द कर लीं और कहने लगा—

दूर दूर ले चल मुझको
इस भयावने अंधकार में
खो दूँ कहीं न फिर तुझको।

श्रद्धा के उपचार तथा जल पीने के पश्चात जब मनु स्वस्थ हुआ तब उतावली के साथ कहने लगा—'इस छाया के बाहर मुझे शीघ्र ले चलो'—

इसके उपरांत वह इड़ा के साथ उसके कार्य-संचालन में सहायता देने के लिये उसके पास रह गया, किन्तु इससे मनु की तृप्ति कहाँ ? कुछ दिनों तक कार्य करने के बाद वह स्वयं उस देश का स्वामी बन बैठा और फिर इड़ा पर भी अपना अधिकार स्थापित करने की चेष्टा करने लगा। इसका फल यह हुआ कि उसमें और इड़ा में भी संघर्ष प्रारम्भ हो गया। मनु सोचता था—

इड़ा नियम परतंत्र चाहती मुझे बनाना
निर्बाधित अधिकार उसी ने एक न माना

किन्तु ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि—

मैं चिर बंधन हीन मृत्यु सीमा उल्लंघन—
करता सतत चलूँगा यह मेरा है दृढ़ प्रण।
महानाश की सृष्टि बीच जो क्षण हो अपना
चेतनता की तुष्टि वही है फिर सब सपना।

इस दृढ़ निश्चय के अनन्तर वह इड़ा से साफ शब्दों में कह देता है कि—

इड़े मुझे वह वस्तु चाहिये जो मैं चाहूँ
तुम पर हो अधिकार प्रजापति न तो वृथा हूँ।
× × ×
देखो यह दुर्धर्ष प्रकृति का इतना कंपन
मेरे हृदय समक्ष क्षुद्र है इसका स्पंदन।
× × ×
किन्तु पास ही रहो बालिके, मेरी हो तुम,
मैं हूँ कुछ खिलवाड़ नहीं जो अब खेलो तुम।

मनु को इस मत्तता से सावधान करते हुये इड़ा ने बड़ा समझाया, किन्तु वह तो सदैव से एक ज्वलनशील पतंग की भाँति

विनाश में ही विकास पाता रहा है फिर इड़ा की बात क्यों मानता ? वह क्रोध भरे शब्दों में कहने लगा—

मायाविनि बस पाली तुमने ऐसे छुट्टी
लड़के जैसे खेलों में कर लेते खुट्टी

× × ×

आज शक्ति का खेल खेलने में आतुर नर
प्रकृति संग संघर्ष निरन्तर अब कैसा डर।

इस पर इड़ा ने वहाँ से चले जाने की बात सोची, किन्तु मनु ने उसे अपनी सारी कामुक चेष्टाओं के साथ सशक्त बाँहों से जकड़ लिया और इड़ा का सारा क्रन्दन और छुड़ाने की इच्छा "फिर सब डूबा आहों में" परिणित हो गया। मनु के इस अनाचार से पीड़ित प्रजा भीतर घुस आई और मनु ने उससे शक्ति भर युद्ध किया। अन्त में वह आहत होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा। उसी समय श्रद्धा उसे खोजती हुई वहाँ पहुँची और मनु ने कहा—

श्रद्धा ! तू आ गयी भला तो
पर मैं क्या था यहीं पड़ा ?

उसका क्षोभ इतना उमड़ पड़ा कि उसने अपनी आँखें बन्द कर लीं और कहने लगा—

दूर दूर ले चल मुझको
इस भयावने अंधकार में
खो दूँ कहीं न फिर तुझको।

श्रद्धा के उपचार तथा जल पीने के पश्चात जब मनु स्वस्थ हुआ तब उतावली के साथ कहने लगा—'इस छाया के बाहर मुझे शीघ्र ले चलो'—

मुक्त नील नभ के नीचे या
कहीं गुहा में रह लेंगे,
अरे झेलता ही आया हूँ
जो आवेगा सह लेंगे!

इतना कहने के बाद मनु श्रद्धा के साथ की सुन्दर स्मृतियों में डूबने उतराने लगा, और संकोच के साथ श्रद्धा से बोला—

तुमने इस सूखे पतझड़ में
भर दी हरियाली कितनी
मैंने समझा मादकता है
तृप्ति बन गई वह इतनी।

× × ×

भगवति! वह पावन मधु धारा!
देख अमृत भी ललचाये।

× × ×

कितना है उपकार तुम्हारा
आश्रित मेरा प्रणय हुआ
कितना आभारी हूँ, इतना
संवेदनमय हृदय हुआ।

इस अभिनन्दनमयी ग्लानि की तीव्रता इतनी बढ़ी कि मनु अपने को श्रद्धा के सामने एक अक्षम्य अपराधी की भाँति समझने लगा, वहाँ भी श्रद्धा की क्षमता, उदारता तथा स्नेहशीलता को मनु नहीं स्वागत कर सका और अपना काला मुख लेकर रात को चुपचाप एक बार फिर बाहर निकल गया। श्रद्धा ने उसे फिर खोजने की ठानी और इस बार पास ही सरस्वती के किनारे उसे पा भी गई। मनु ने इस विश्वमित्र शान्तमूर्ति को देखा और कहने लगा—

तुमने अपना सब कुछ खोकर
वंचिते जिसे पाया रोकर,
मैं भगा प्राण जिससे लेकर
उसको भी, उन सब को देकर;

तुम यहाँ आई हो। तुम्हारे मन का प्रवाह समझ में नहीं आता? किन्तु जब श्रद्धा ने उसकी शंका और उसके भ्रम को अपने मर्म-वचनों से दूर कर दिया तब वह नत-मस्तक होकर श्रद्धामय शब्दों में फूट पड़ा—

तुम देवि, आह कितनी उदार
यह मातृ मूर्ति है निर्विकार,
हे सर्व मंगले तुम महती
सब का दुख अपने पर सहती,
कल्याणमयी वाणी कहती
तुम क्षमा निलय में हो रहती!

अन्त में मनु, श्रद्धा की विशेषता और महत्ता को स्वीकार कर लेता है। उसके मातृत्व पर भी उसकी आस्था हो जाती है। वास्तव में जब तक पुरुष अपनी पत्नी के यौवन काल की भावनाओं से ही अनुरक्त रहता है तब तक वह नारी की महिमा को विलास की सामग्री के अतिरिक्त और कुछ नहीं समझता, किन्तु जब उसे नारी के मातृत्व पर भी ममता हो जाती है तब वह उसे निर्माणमयी स्नेह की साकार प्रतिमा समझने लगता है। यह स्मरण रखना चाहिये कि मनु श्रद्धा की माता बनने की कामना तथा भावना को भी एक दिन नहीं सहन कर पाया था इस समय वही—

मनु ने देखा कितना विचित्र
वह मातृ मूर्ति थी विश्वमित्र!

मनु पर श्रद्धा की यही सबसे बड़ी विजय थी। पुरुष नारी के सामने इसी प्रकार सदैव पराजित हुआ है—राम सीता से, दुष्यन्त शकुंतला से, नल दमयन्ती से तथा शिव पार्वती से।

शान्त मन से दोनों हिमालय के शिखर की ओर चल पड़े। बहुत ऊँचाई पर पहुँच कर मनु ने तीन विशाल प्रज्वलित गोले नीचे की ओर देखा और श्रद्धा से उन सब का रहस्य समझा तब इसके पश्चात्—

स्वप्न, स्वाप, जागरण भस्म हो
इच्छा क्रिया ज्ञान मिल लय थे,
दिव्य अनाहत पर निनाद में
श्रद्धायुत मनु बस तन्मय थे।

इधर इड़ा भी कुमार के साथ वहीं पहुँची और कहने लगी—

हम एक कुटुम्ब बनाकर
यात्रा करने हैं आये,
सुनकर यह दिव्य तपोवन
जिसमें सब अघ छुट जाये।

इड़ा की इस युक्ति पर मनु ने मुस्कराते हुये, कैलाश की ओर संकेत किया और कहा 'देखो यहाँ पर कोई पराया नहीं है'—

हम अन्य न और कुटुम्बी
हम केवल एक हमीं हैं,
तुम सब मेरे अवयव हो
जिसमें कुछ नहीं कमी है।

:: :: ::

अपने दुख सुख से पुलकित
यह मूर्त-विश्व सचराचर,

चित् का विराट वपु मंगल
यह सत्य सतत चिर सुदर ।

× × ×

सब भेद भाव भुलवा कर
दुख सुख को दृश्य बनाता
मानव कह रे 'यह मैं हूँ'
यह विश्व नीड़ बन जाता !

इस प्रकार हमें मनु में मानव-प्रवृत्तियों का सम्पूर्ण परिचय मिलता है ! एक ओर वह बहुत ही भावुक है तो दूसरी ओर बहुत ही तार्किक, कहीं विलासी तो कहीं उदासी, कहीं स्नेहशील सहृदय तो कहीं निर्मम । वह मनुष्य की सत् तथा असत् प्रवृत्तियों का संघात रूप है । दीर्घ-लघु, कोमल-कठोर, हृदय-बुद्धि, राग-विराग, आदि सभी मानवीय विशेषताओं का मनु में सम्मिश्रण है, इसमें सन्देह नहीं ।

मनु के माध्यम से जिस मानवीय प्रतिभा का विश्लेषण तथा उद्‌घाटन प्रसाद जी ने किया है वह उनकी महानता का मूल मंत्र है। कामायनी में मनु की चरित्र-कथा का पूर्ण विकास है, बाकी सब चरित्र उसकी मानसिक स्थितियों के विश्रामस्थल से लगते हैं। विश्व-चक्र के लीला लासमय संचालन में पौरुषेय प्रवृत्तियों का सदैव प्राधान्य रहा है । संसार के प्रायः सभी महाकाव्यों में पुरुष-प्रतिभा का ही आधिक्य पाया जाता है, इसे सभी जानते हैं । पुरुष में विरोधी भावनाओं का जो सम्मिश्रण पाया जाता है वह नारी में सम्भव नहीं, क्योंकि वह केवल 'हृदय की बात' सी कोमल है 'बाह्य कोलाहल' सी कठोर नहीं। जीवन की इस भयावह परिस्थिति का कि—

फिर से जलनिधि उछल बहे
मर्यादा बाहर,
फिर झंझा हो वज्र प्रगति से
भीतर बाहर !

× × ×

फिर डगमग हो नाव लहर—
ऊपर से भागे,
रवि शशि तारा सावधान
हो चौंकें जागें !

केवल पुरुष ही आह्वान कर सकता है, क्योंकि उसमें रुद्रत्व तथा शिवत्व का सम्मेलन है। नारी की स्थिति का निदर्शन श्रद्धा ने स्वयं बहुत ही सुन्दर शब्दों में किया है—

निरवलंब होकर तिरती हूँ
इस मानस की गहराई में
चाहती नहीं जागरण कभी
सपने की इस सुघराई में।

नारी की यह स्थिति उसे विश्व-वैचित्र्य की कर्ममयी कठिन कठोरता से अलग कर देती है, किन्तु पुरुष अपनी हार्दिक स्नेहशीलता के साथ ही साथ विश्व में बिखरे अनेक विरोधी स्वभावों की व्यवस्था भी करता चलता है। संघर्ष की इन्हीं विरोधी प्रवृत्तियों के प्रदर्शन के लिये कवि को मनु की विशेष विवेचना करनी पड़ी है, क्योंकि मनु सनातन पौरुष का प्रतीक है, यह कहने की आवश्यकता नहीं।

सिंहावलोकन

पाश्चात्य तत्वदार्शनिकों ने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया है कि मानव की उत्पत्ति निम्नतमस्तर के जीवों के उत्तरोत्तर विकास और प्रगति के परिणाम स्वरूप हुई है। पर भारतीय पौराणिक मत इसके एकदम विपरीत है, क्योंकि इसके अनुसार मानव का जन्म उच्चतम स्तर अर्थात् देवत्व के पतन से हुआ है। इस विचित्र मत का प्रचार केवल पुराणों ने ही नहीं किया हमारे दार्शनिकों ने भी दूसरे ढंग से इसी की परिपुष्टि की है। सांख्यवादियों ने प्रकृति और पुरुष के संयोग से सृष्टि का जो क्रम रखा है उसकी गति उच्चतम स्तर से क्रमशः नीचे की ओर है। यदि यह कहा जाय कि पाश्चात्यमत सृष्टि को विकासोन्मुखी मानता है और प्राच्यमत उसे ह्रासोन्मुखी तो अनुचित न होगा।

यदि व्यापक दृष्टि से देखा जाय तो ये दोनों मत एक दूसरे के विरोधी नहीं वरन् पूरक जान पड़ते हैं। कारण यह है कि सृष्टि के विकास का क्रम सरल रेखान्वित नहीं है बल्कि वृत्तात्मक है, फल स्वरूप कभी ह्रास विकासोन्मुख मालूम होने लगता है और कभी विकास ह्रास का पथ अनुसरण करता हुआ दिखलाई पड़ता है। विकास और ह्रास, उत्थान और पतन के इस निरन्तर गतिशील चक्र के विविध धुरों के केन्द्र में मानव स्थित है। वह सृष्टि के महाराग का सम है। उस महाराग की तान की उड़ान चाहे देवत्व तक पहुँचे, चाहे उसके लय का ह्रास-क्रम एक लघु कीटाणु में समाहित हो जाय, यदि वह घूम फिर कर मानव रूपी सम में आकार केन्द्रित न हो सके तो उसकी सारी सार्थकता जाती रहती है। इस संतुलन में गड़बड़ी होने से सृष्टि का सारा क्रम ही बिगड़ जाता है।

देवत्व और प्राणि-सृष्टि के निम्नतम स्तर की अवस्थायें एक दृष्टिकोण से समान हैं, क्योंकि दोनों में जीवन-वैचित्र्य नहीं वरन् समरसता है, गतिशीलता नहीं, जड़ता है। सृष्टि की दोनों चरम अवस्थाओं की तुलना ईथर के कम्पन की दो चरम अवस्थाओं से की जा सकती है। भौतिक विज्ञान यह प्रतिपादित करता है कि प्रकाश का कारण ईथर का कम्पन है—पर वह कम्पन परिमाण की दो विशेष अवस्थाओं तक सीमित होना चाहिये, क्योंकि ज़रा भी इधर उधर होने से प्रकाश अनंत अंधकार में परिवर्तित हो जावेगा। ईथर का कम्पन जब अति न्यूनता को प्राप्त होता है तब वह प्रकाश में परिणत होने में असमर्थ रहता है. इसी प्रकार जब वह अति आधिक्य को प्राप्त होता है तब भी अंधकार में ही लीन हो जाता है। कम्पन की विविध अवस्थाओं के सामञ्जस्य और समालोड़न से ही प्रकाश की उत्पत्ति होती है। यदि उस कम्पन की वेगशीलता अनन्त की ओर बढ़ती ही चली जाय और लौटकर सम तक न आ सके तो वह कभी जीवन और प्रकाश को जन्म देने में समर्थ न हो सकेगी। उसी प्रकार प्राण-सृष्टि का विकास देवत्व की अवस्था को प्राप्त होने पर यदि फिर लौट कर मानव के प्रतिदिन के सुख-दुख, हास-रुदन और जीवन-मरण के चक्र से अपना सम्बन्ध नहीं जोड़ेगा और सर्जन चक्र के उस मूल केन्द्र से अपने को छिन्न करके देव-दंभ के भाव को केवल स्तर-प्रति स्तर बढ़ाता चला जायगा, तो वह निश्चय ही चरम जड़ता को प्राप्त होकर अनंत अंधकार में भटकता रहेगा। इस प्रकार वह देवत्व अपने साथ ही महानाश के बीज का प्रस्फुटन करता चलता है। महाजल प्लावन से जिस देव-सृष्टि का विनाश हुआ उसने अपने को मानवता के 'सम' से एकदम च्युत कर दिया था। संवेदनशीलता, करुणा और प्रेम की भावनाओं में थोड़ी भी कमी

न रखकर केवल दंभ और सुख के अपरिमित संग्रह को ही जीवन का चरम लक्ष्य मान लिया था—

सुख केवल सुख का वह संग्रह
केंद्रीभूत हुआ इतना,
छाया पथ में नव तुषार का
सघन मिलन होता जितना।

सब कुछ थे स्वायत्त, विश्व के
बल, वैभव, आनंद अपार,
उद्वेलित लहरों सा होता, उस
समृद्धि का सुख संचार।

कीर्ति, दीप्ति, शोभा थी नचती
अरुण किरण सी चारों ओर,
सप्त सिंधु के तरल कणों में
द्रुम दल में आनंद विभोर।

× × ×

स्वयं देव थे हम सब तो फिर
क्यों न विशृंखल होती सृष्टि,
अरे अचानक हुई इसी से
कड़ी आपदाओं की वृष्टि।

देवों की एकांत स्वार्थमयी घोर अहंवादिनी एकरसता और चरम विलासिता पूर्ण सृष्टि के प्रति मनु के हृदय में जो भयंकर विद्रोह-भाव उत्पन्न होता है कामायनी में उसका प्रदर्शन अत्यन्त सुन्दर और सात्विक रूप में हुआ है। इस कथा का मूल स्रोत मनु की इस विद्रोह-भावना से ही प्रस्फुटित हुआ है! मनु का यह विद्रोह देवत्व की एक रसतामयी सुख-जड़ता में संवेदन की गतिशीलता लाने की आकांक्षा का आवेग मात्र है। उस पुंजीभूत सुख

की अचल हिम-राशि की एक रसता को मिटाकर सुख-दुख मिश्रित विविध अनुभूतियों से पूर्ण जीवन की विचित्रता का आनयन करने की अदम्य उत्कंठा मनु की आत्मा के रंध्र रंध्र में समा जाती है और वह अत्यन्त विकल हो उठता है—

मनु का मन था विकल हो उठा
संवेदन से खाकर चोट,
संवेदन! जीवन जगती को
जो कटुता से देता घोंट।

संवेदन चाहे कैसी ही कटुता से जीवन को घोंटे किन्तु उसके बिना जीवन में गतिशीलता और चेतनता कभी नहीं आ सकती। जब तक सुख की एकरसता का वेदना की विषमता का गहरा धक्का नहीं लगता तब तक जीवन के यथार्थ सत्य का परिचय कदापि नहीं हो सकता क्योंकि—

विषमता की पीड़ा से व्यस्त
हो रहा स्पंदित विश्व महान,
यही दुख सुख विकास का सत्य
यही भूमा का मधुमय दान।

नित्य समरसता का अधिकार
उमड़ता कारण जलधि समान,
व्यथा से नीली लहरों बीच
बिखरते सुख मणिगण द्युतिमान।

वेदना जीवन का एक आवश्यक उपकरण है। वेदनाहीन कोरे सुख के संचय से भारभूत जीवन, जीवन नहीं वरन् केवल जड़ मृत्यु की अवरुद्ध प्रतिच्छाया है। अतः जीवन का उद्देश्य वेदना की अनुभूति का निराकरण कदापि नहीं हो सकता, वेदना को नाना

कामायनी

सुन्दर, सुकुमार, सरस और मंगलमय रंगों से रंजित करते रहने में ही मानव जीवन की सार्थकता है। इसीलिये संवेदनशीलता एक मात्र मानव की विशेषता है—न वह देव-सृष्टि में पाई जाती है और न निम्न श्रेणी के प्राणि-जगत में। यह ध्यान रखना चाहिये कि यहाँ संवेदनशीलता का उपयोग व्यापक अर्थ में किया गया है। अनेक बार वेदना की इसी अनुभूति ने मानव को मृत्यु में भी अमरत्व प्रदान किया है क्योंकि उसने मृत्यु द्वारा जीवन को एक शाश्वत गतिशीलता दी है, क्योंकि जो अमरता मनुष्य को चिरकाल तक दुखरहित सुख की निर्विचित्र एकरसता के जड़त्व से आच्छादित किये रहे वह अनंत मृत्यु से कुछ अधिक विशेषता नहीं रखती। सच्चा अमरत्व तो वह है, जो जीवन को बार-बार मृत्यु के 'सम' पर लाकर बीच-बीच में उसे विश्राम देता रहता है और विश्राम के पश्चात् पुनः नये रूप से जीवन की विविध सुख-दुखमयी विचित्रता की अनंत कालीन प्रवहमानता को अपनाता हुआ चला जाता है। कामायनी, विद्रोही वैयक्तिक मानव की प्रगतिशील वेदना की इसी प्रवहमानता का काव्य है, इसे न भूलना चाहिये।

वास्तव में अनंत अमरता अप्राकृतिक और गतिहीन तथा निर्विचित्र है, वह उस अनंत मरीचिका की तरह है, जिसकी न कोई सत्ता है न सार्थकता, पर जो केवल अपनी मनोहर मिथ्या माया की अलस क्लान्ति के भार से आत्मा को एक स्वर्ण पिंजर में चिरकाल निश्चेष्ट अवस्था में बाँधे रहना चाहती है। इसी कारण मनु का विद्रोही मन देवताओं की उस जड़ अमरता को कोसते हुये कहता है—

> ओ जीवन की मरु-मरीचिका
> कायरता के अलस विषाद !

अरे पुरातन अमृत! अगतिमय
मोह मुग्ध जर्जर अवसाद।
मौन! नाश! विध्वंस! अँधेरा!
शून्य बना जो प्रगट अभाव,
वही सत्य है अरी अमरते!
तुझको यहाँ कहाँ अब ठाँव!

इस अगतिमय अवसादमयी अमरता की प्रतिक्रिया के रूप में मनु ने मृत्यु का आविष्कार किया—

मृत्यु, अरी चिर-निद्रे! तेरा
अंक हिमानी सा शीतल,
तू अनंत में लहर बनाती
काल जलधि की-सी हलचल!

महानृत्य का विषम सम अरी
अखिल स्पंदनों की तू माप,
तेरी ही विभूति बनती है
सृष्टि सदा होकर अभिशाप।

अन्धकार के अट्टहास-सी
मुखरित सतत चिरन्तन सत्य,
छिपी सृष्टि के कण-कण में तू
यह सुन्दर रहस्य है नित्य!

जीवन तेरा क्षुद्र अंश है
व्यक्त नील घनमाला में
सौदामिनी-संधि सा सुन्दर
क्षण भर रहा उजाला में।

इस दृष्टिकोण से यदि देखा जाय तो मृत्यु मनुष्य के सामने शाश्वत गति और चिर अमरता के रूप में आती है और अमरता

चिर जड़ और गतिहीन-मृत्यु सी लगती है। मानव-जीवन का मृत्यु यद्यपि चिर निद्रा और चिर निश्चेष्टता सी प्रतीत होती है, किन्तु वास्तव में यह महाजीवन को चिर गतिशील रूप में हमारे सामने लाती है। वह स्वयं एक महाजलधि के समान है जिसके ऊपर जीवन की हलचल अनंत लहरों के रूप में सदा उच्छ्वसित होती रहती है। मृत्यु-जलधि के बिना जीवन की लहरों की न तो कोई महत्ता है और न सार्थकता। मानव ने इस चिर शांत तो भी चिर चंचल मृत्यु को अपना कर जीवन को सुन्दर, सार्थक और नित्य-नवीन बना लिया है, उसकी यह विशेषता उसे देवताओं से कई गुना अधिक महत्वपूर्ण बना देती है।

देवताओं ने जिस अनत वंचनमयी, अमित स्वार्थ-पूर्ण अविचल दंभ की विडम्बना से अभिशप्त अमरता का उपभोग दीर्घकाल तक किया वह अपनी एकरसता के असहनीय भार से स्वयं धँसने लगी और उसकी पुरातनता के भीतर विनाश का कीड़ा घुस गया, जो उसे अव्यक्त रूप से भीतर ही भीतर खोखला करता गया। प्रकृति तो चिर प्रगतिशील होती है। वह किसी भी संस्कृति की— चाहे वह कैसी ही उच्चस्तर की क्यों न हो—पुरातन की जड़ता को अधिक समय तक सहन नहीं कर सकती—

पुरातनता का यह निर्मोक
सहन करती न प्रकृति पल एक,
नित्य नूतनता का आनंद
किये है परिवर्तन में टेक।

युगों की चट्टानों पर दृष्टि
डाल पद-चिन्ह चली गंभीर,
देव, गंधर्व, असुर की पंक्ति
अनुसरण करती उसे अधीर।

अपने अमरलोक में देवगण अपरिमित शक्ति, सुख और विलास के साधनों का संग्रह करते चले जाते थे और इस कल्पना से अंध बने हुये थे कि मानो सृष्टि चक्र से विच्छिन्न उनका अमर-लोक सदा के लिये अक्षय और अजर बना रहेगा। उन्होंने यह नहीं सोचा कि—

> देव न थे हम × × ×
> सब परिवर्तन के पुतले,
> हाँ कि गर्व-रथ में तुरंग-सा
> जितना जो चाहे जुत ले।

परिवर्तन सृष्टि का अनादि नियम है और जो शक्तियाँ सृष्टि-चक्र से असहयोग किये रहती हैं उनमें केवल परिवर्तन नहीं होता वरन् एक भयंकर प्रलय आकर उन्हें ध्वंस-भ्रंश करके छोड़ती है। देव दंभ की अजर-अमर सृष्टि का यही हाल हुआ।

असीमित अहंभाव, अनवरत आत्मतोषण और एकांतिक आत्म-विलास से परिपुष्ट देवों का अमरलोक जब विद्रोही प्रकृति के प्रलय-प्रवाह में बह चला, तब मनु की जीवन नौका किसी प्रकार पार लग गई। देवों की अबाध आत्म-तुष्टि का यह सामूहिक नाशमूलक परिणाम देखकर उनकी अन्तरात्मा में एक विलक्षण क्रान्तिकारी प्रतिक्रिया हुई। हिमवान पर्वत पर डेरा डाल कर वह अमर लोक की अतीत-स्मृति को टटोलते हुये गहन चिन्ता में लीन हो गया। उनके भीतर जीवन के यथार्थ सत्य के सम्बन्ध में एक व्याकुल जिज्ञासा उत्पन्न हुई, किन्तु प्रारम्भ में चारों ओर अनंत अंधकार और निराशा के अतिरिक्त और कुछ नहीं दिखाई दिया। कुछ समय पश्चात् आशा की कलित किरणें उनकी आँखों के आगे उद्भासित होने लगीं, और उन्हें ऐसा लगा कि सृष्टि के

कामायनी

रहस्य और जीवन के मंगलमय सत्य का आभास धुंधले चित्रों की क्षीण रेखाओं की तरह उसके आगे व्यक्त हो रहा है। इतना होते हुये भी वह अपनी उन समस्याओं को नहीं सुलझा सका जो उसके मस्तिष्क को नयी-नयी चिन्ताओं के रूपों में आच्छादित करती चली जाती थी। देव-सृष्टि की भयंकर भूलों को चाहे वह जितना भला बुरा कहे पर खोये हुये देव-विभव की सुख-स्मृति छाया की तरह उसका पीछा किये हुई थी, यह निश्चय है। वह अपने को उस मेघ की भाँति समझने लगता है जो अनंत शून्य में भटकता रहता है—

एक उल्का सा जलता भ्रांत
शून्य में फिरता हूँ असहाय।
पहेली सा जीवन है व्यस्त
उसे सुलझाने का अभिमान,
बताता है विस्मृत का माग
चल रहा हूँ बन कर अनजान।
भूलता ही जाता दिन रात
सजल अभिलाषा कलित अतीत
बढ़ रहा तिमिर गर्भ में नित्य
दीन जीवन का यह संगीत।

इस प्रकार की निराशा और अविश्वास-मूलक मानसिक परिस्थिति में मनु को श्रद्धा के दर्शन होते हैं, जिसे देखते ही उसके अविश्वासी मन में एक श्रद्धा-परायण भाव और निराश-हृदय में आशा की प्रदीप्त रेखा प्रज्ज्वलित हो उठी और उसने कहा—

कौन हो तुम बसंत के दूत
विरस पतझड़ में अति सुकुमार,

घन तिमिर में चपला की रेख
तपन में शीतल मन्द बयार।

नखत की आशा किरण समान
हृदय के कोमल कवि की कान्त,
कल्पना की लघु लहरी दिव्य
कर रही मानस हलचल शान्त।

श्रद्धा का यह रूपक बहुत ही सुन्दर और मार्मिक है। जीवन का यह निश्चित नियम है कि किसी भी महत् चिंतन अथवा महत् कार्य के मूल में जब तक श्रद्धा और विश्वास का भाव नहीं होता, तब तक न तो वह चिंतन किसी सार्थक लक्ष्य पर पहुँच सकती और न वह कार्य ही किसी सफल परिणाम में परिणत हो सकता है। श्रद्धा इस अनन्त-व्यापी जीवन-चक्र के विकास का केन्द्र बिन्दु है, केन्द्र का ग्रहण कर लेना ही जीवन का मर्म प्राप्त करना है। जो व्यक्ति जीवन के इस केन्द्र से च्युत हो जाता है, वह जीवन निशीथ के अंधकार में अनंत काल तक भटकता रहता है। इस केन्द्रहीन परिधि में आश्चर्यजनक और बहुत व्यापक अनुभव भी हो सकते हैं, किन्तु उन लक्ष्यहीन अनुभवों की उपयोगिता न तो व्यक्ति के लिये न समाज के लिये और न संसार के लिये, सार्थक हो सकती। इसके विपरीत केन्द्रस्थ अनुभव चाहे व्यापक और विस्तीर्ण न भी हों पर इतना निश्चित है कि वे कभी अंधकार में नहीं छोड़ते। इसी लिये श्रद्धा के देखते ही मनु के मन की वे शक्तियाँ जो कि अनंत शून्य में बिखरी हुई थीं केन्द्रित सी होने लगती हैं। श्रद्धा ने मनु की भ्रान्ति और अकर्मण्य निराशा देखकर उसे मीठे किन्तु तिरस्कार भरे शब्दों में बताया कि जीवन का यथार्थ रहस्य क्या है—

कर रही लीलामय आनंद
महा चिति सजग हुई सी व्यक्त,
विश्व का उन्मीलन अभिराम
इसी में सब होते अनुरक्त।

काम मंगल से मंडित श्रेय
सर्ग, इच्छा का है परिणाम,
तिरस्कृत कर उसको तुम भूल
बनाते हो असफल भव धाम

× × ×

जिसे तुम समझे हो अभिशाप
जगत की ज्वालाओं का मूल,
ईश का वह रहस्य वरदान
कभी मत इसको जाओ भूल।

श्रद्धा की इस प्रकार की वाणी सुनकर मनु के भीतर एक अनोखी आशा और उत्साह का स्रोत अवश्य उमड़ने लगा, किन्तु इतने दिनों के एकाकी जीवन के कारण निराशा का ऐसा भयंकर वज्रभार उसकी आत्मा पर पड़ा हुआ था जिसका हटना सहज नहीं था। देवलोक से च्युत होने की प्रतिक्रिया और एकाकी जीवन की निर्विचित्रता ने उसके मन में एक भ्रांति भर दी थी कि अनंत काल तक एकाकी तप करते रहने ही में जीवन की सार्थकता है। श्रद्धा ने इस भ्रांति पर बहुत ही सस्नेह आघात करते हुये कहा—

तप नहीं केवल जीवन सत्य
करुण यह क्षणिक दीन अवसाद
तरल आकांक्षा से है भरा
सो रहा आशा का आह्लाद!

× × ×

अकेले तुम कैसे असहाय
यजन कर सकते ? तुच्छ विचार,
तपस्वी ! आकर्षण से हीन
कर सके नहीं आत्म-विस्तार।
दब रहे हो अपने ही बोझ
खोजते भी न कहीं अवलंब
तुम्हारा सहचर बनकर क्या न
उऋण होऊँ मैं बिना विलम्ब ?
समर्पण लो सेवा का सार
सजल संसृति का यह पतवार,
आज से यह जीवन उत्सर्ग
इसी पदतल में विगत विकार !

× × ×

बनो संसृति के मूल रहस्य
तुम्हीं से फैलेगी वह बेल,
विश्व भर सौरभ से भर जाय
सुमन के खेलो सुन्दर खेल !

इन शब्दों में श्रद्धा मनु को आत्म-समर्पण करती है और मनु भी उसके प्रति श्रद्धान्वित होकर एक अभिनव सृष्टि-रचना-मानवीय सृष्टि के उद्देश्य से अग्रसर होता है। श्रद्धा की मंगलमयी परामर्श से उसके मन में यह महत्त्वाकांक्षा उत्पन्न हो जाती है कि वह एक ऐसी प्रजा को जन्म दे जो अत्यन्त शक्तिशाली हो और सभी नैसर्गिक शक्तियों पर विजय प्राप्त करे। श्रद्धा ने उसे सुझाया कि उस शक्ति के उपकरण उसे देव सृष्टि के ध्वंस से ही जुटाना होगा, क्योंकि उसके अतिरिक्त और कोई उपकरण है ही नहीं। उपकरण भी वही रहें किन्तु उनका सामञ्जस्य इस क्रम से हो कि देव-

विफलताओं का कोई चिन्ह न रह जाय और मानवता शक्ति के उन विद्युत्कणों के सुन्दर सामंजस्यात्मक संगठन द्वारा विजयिनी हो उठे। देवों की सृष्टि अत्यंन्त उन्नत होने पर भी कल्याण-भावना से रहित थी इसलिये इस अभिनूतन सृष्टि में कल्याण-भावना की पूर्णता रहे इसमें दया, माया, ममता, मधुरिमा और अगाध विश्वास के रसों का पूर्ण परिपाक होता रहे। जिस अहंभाव, आत्म-विलास और दाम्भिकता ने देव-सृष्टि को अतल गह्वर में ढकेल दिया था उसका पुनरावर्तन भूतल में न हो, और सुख को ही मानव संग्रह-मूल न समझे क्योंकि कल्याण-भावना के विकास का मूल सुख नहीं दुख है। भूल से मनु इस दुख को अभिशाप और जगत की ज्वालाओं का मूल समझे बैठा था किन्तु दुख अभिशाप नहीं बल्कि वह वरदान है जो जड़-जीवन में चेतनता का सचार करता है और स्वार्थ के बीच में परमार्थ का आनयन करता है। इस प्रकार की श्रद्धा को पाकर मनु का मन, हृदय एक विचित्र आशा की उन्मादिनी लहरों में डूबने उतराने लगा। श्रद्धा को भी परिपूर्ण समर्पण की प्रवृत्ति, एक अपूर्व अनुभूति की पुलकित चेतना, तरंगित करने लगी। उसकी समझ ही में नहीं आता था कि सनातन पुरुष के पदप्रान्त में अपना सब कुछ न्योछावर करने की विकलता उसकी अन्तरात्मा में क्यों बढ़ती चली जाती है। समर्पण! केवल समर्पण द्विधा बाधाहीन निष्काम आत्मदान! वह लज्जा से एकांत अपनी इस विह्वल अनुभूति का पर्दा खोलते हुए कहती है—

यह आज समझ तो पाई हूँ
मैं दुर्बलता में नारी हूँ,
अवयव की सुन्दर कोमलता
लेकर मैं सबसे हारी हूँ।

पर मन भी क्यों इतना ढीला
अपने ही होता जाता है?
घन श्याम खंड सी आँखों में
क्यों सहसा जल भर आता है?
सर्वस्व समर्पण करने का
विश्वास महातरु छाया में,
चुपचाप पड़ी रहने की क्यों
ममता जगती है माया में?
इस अर्पण में कुछ और नहीं
केवल उत्सर्ग छलकता है
मैं दे दूँ और न फिर कुछ लूँ
इतना ही सरल झलकता है।

श्रद्धा सनातन नारी की प्रतीक है। नारी चाहे किसी भी युग में किसी भी जाति में जन्म ले उसकी अन्तरात्मा के मूल में सर्वस्व समर्पण करने की प्रवृत्ति निश्चित रूप में पाई जायेगी। इस प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति में देश-काल पात्र के अनुसार कुछ अन्तर हो सकता है पर मूलगत भाव चिरंतन, चिरस्थिर और चिर निश्चित है। यह आवश्यक नहीं कि नारी-हृदय का यह समर्पण पुरुष ही के प्रति हो, वह किसी भाव और कर्म-जीवन के किसी महान उद्देश्य के प्रति भी हो सकता है। पर अधिकांशतः पुरुष के ही प्रति नारी के इस मूलगत भाव का उद्घाटन पाया गया है, इसे सभी जानते हैं। कुछ भी हो, श्रद्धा ने जब परिपूर्ण रूप से मनु के सहयोग के लिये अपना सर्वस्व अर्पित कर दिया, तब उस सनातन पुरुष की उत्सुकता कुछ ढीली पड़ने लगी। पर इस संसार में आने के पहिले जिस नारी को वह अपार रहस्यमयी अनंत कौतूहलोत्पादिनी और अत्यंत निकट होने पर भी अपनी पहुँच से बहुत दूर समझे बैठा

कामायनी:

था, वह इतनी सहज सुलभ है! इतनी समर्पणशील है! उसमें तो ऐसा कुछ नहीं जो अनंत रहस्यमय हो, जो मनु के अवसन्न प्राणों को नित्य नई उमंगों से भरता रहे। इस प्रकार की अनेक विरोधी भावनाओं से मनु का चिर चंचल मन जर्जरित होने लगा। वह सोचने लगा कि क्या नारी हृदय की भावुक रस-विह्वलता में डूबे रहने के ही लिये वह प्रलय-प्रवाह से आत्म-रक्षा कर सका है? या उसे अनंत कर्म-चेष्टाओं की ओर अपनी समस्त प्रवृत्तियों को केन्द्रित करना होगा और उसके भीतर निहित देवांश शक्तियों का व्यापक विकास करना होगा? तभी तो उसकी उद्दाम आकांक्षाओं की तृप्ति भी सम्भव होगी।

इस प्रकार की चिंताधारा से मनु के अहंभाव का सूत्रपात होता है—वह अहंभाव जो आदिकाल से आजतक मानव-मन को ध्वस्त-विध्वस्त और छिन्न-भिन्न करके असंख्य कुटिल चक्रजालों में उलझाये हुये है, जिसके कारण एक क्षण भर के लिये उसे शान्ति नहीं मिलती। यह अहंभाव सभ्यता तथा संस्कृति के नये नये रूप-परिवर्तनों के साथ ही साथ घटने की अपेक्षा उत्तरोत्तर बढ़ता ही चला जाता है और निरन्तर मानव जाति को विनाश की ओर ढकेलता चला जाता है। मनु के जीवन और फलतः मानव जीवन की इस अधोगति तथा विपन्नता का मूल कारण यही अहंभाव है। आत्म-विलास आत्म विकास और आत्म-शक्ति-वर्द्धन के जो संस्कार पुरुष की आत्मा के अणु परमाणु में निहित हैं वे मानों ध्वंसीभूत-देव-सृष्टि के अवशिष्ट चिन्हों के प्रतीक हैं जिन्हें नष्ट करने में मनु तथा मनुज असमर्थ रहा। श्रद्धा ने मनु से कहा था—"तुम्हें देवों की ध्वंस सृष्टि के बिखरे विद्युत्कणों का उपकरण जुटा कर एक नई रचना करनी होगी"। उसका आशय स्पष्ट ही यह था कि उपकरण वही रहें किन्तु उनके समन्वय का क्रम बिलकुल नया

हो। पर जहाँ तक आत्म-शक्ति-विकास का प्रश्न है वहाँ तक मनु ने समन्वय का वही क्रम रखा जो देव-सृष्टि में वर्तमान था, इस विषय में ही मनु ने भूल की।

देवत्व के संस्कार अपने आप में किसी प्रकार हीन नहीं हैं किन्तु उनके समन्वय के क्रम में मूलगत परिवर्तन की आवश्यकता है। इसी प्रकार मानव की आत्म-शक्ति विकास की प्रवृत्ति मूलतः हानिकारक नहीं है वरन् यदि समुचित मार्ग से इसका परिपालन हो तो यह मानव-जाति के लिये अत्यंत उपयोगी सिद्ध हो सकती है। पर अधिकांशतः वैयक्तिक अथवा समष्टिगत मानव इस प्रवृत्ति का विकास अत्यंत विकृत उपायों से अत्यंत स्वार्थगत संकीर्ण उद्देश्यों को सामने रखते हुये करता है, इसलिये इसका विनाशकारी परिणाम देखने में आता है। स्वयं श्रद्धा ने मनु की आत्म-शक्ति को जगाया था और उसे विपुल कर्मचेष्टा के लिये प्रवृत्त किया था, किन्तु उसने यह नहीं सोचा था कि उसकी उपदेश-वाणी का विकृत अर्थ हो। मनु की आत्मा अपनावेगी। मनु ने जब सोमपान और मांस-भक्षण में रत रहकर श्रद्धा को केवल विशुद्ध आत्म तृप्ति के रूप में परिणत करने की बात सोची तब श्रद्धा ने कहा—

> मनु क्या यही तुम्हारी होगी
> उज्ज्वल नव मानवता !
> जिसमें सब कुछ ले लेना हो
> हंत बची क्या शवता !
>
> × × ×
>
> मैं कुंठित कहती हम में सब
> सोता कहीं जाग लें।

कामायनी

सरस न हो मकरंद बिन्दु से
खुलकर तो ये मर ले!

× × ×

सुख अपने संतोष के लिये
संग्रह मूल नहीं है,
उसमें एक प्रदर्शन जिसको
देखें अन्य. वही है!

मनु ने श्रद्धा की उक्ति का यह अर्थ लगाया कि उसके भीतर अहं की जो शक्ति बीज रूप में निहित है उसका व्यापक विकास आत्म-शक्ति को चरम रूप देकर विश्व के समस्त वैभवों तथा प्राणियों पर शासन करने में ही सुख की पूर्णता है। उसने यह नहीं समझा कि अपने अहं को विपुल विश्व के विराट अहं के साथ एक रूप में परिणत किये बिना जीवन में कभी वास्तविक सुख, शान्ति और संतोष प्राप्त नहीं हो सकता। उसने हिंसा नग्न-बर्बरता तथा उच्छृंखलता आदि अपना जीवन-दर्शन बनाया और उसके जीवन का सारा संघर्ष केवल आत्म सुख-प्राप्ति के लिये चलने लगा। उसके मन में यह धारणा बद्धमूल हो गई—

मैं तो यह मान नहीं सकता
सुख सहज लब्ध यों छूट जाँय,
जीवन का जो संघर्ष चले
वह विफल रहे हम चले जाँय।

श्रद्धे यह नव संकल्प नहीं—
चलने का लघु जीवन अमोल,
मैं उसको निश्चय भोग चलूँ
जो सुख चलदल सा रहा डोल।

देखा क्या तुमने कभी नहीं
स्वर्गीय सुखों पर प्रलय-नृत्य ?
फिर नाश और चिर निद्रा है,
तब इतना क्यों विश्वास सत्य ?

यह चिर प्रशांत मंगल की क्यों
अभिलाषा इतनी रही जाग ?
यह संचित क्यों हो रहा स्नेह,
किस पर इतनी हो सानुराग ?

उसी चलदल के समान अस्थिर सुख को प्रतिपल भोगते चलने की इच्छा से मनु श्रद्धा के नव-मातृत्व की मंगलमयी अनुभूति से विकसित निखिल कल्याण-कामना की परम, महत्तम भावना का मर्म नहीं समझ पाया। जब श्रद्धा ने अपने भावी अतिथि के स्वागत की उत्सुकता व्यक्त की तो मनु के हृदय में ईर्ष्या की ज्वाला धधक उठी, क्योंकि वह समझता था कि श्रद्धा आत्म-समर्पण के पश्चात् अपने हृदय का सारा संचित स्नेह केवल उसी को दे सकती है उसका एक कण भी किसी दूसरे को चाहे वह उसका आत्मज ही क्यों न हो देने का उसे अधिकार नहीं है मनु ने यह नहीं सोचा कि जिस आने वाले शिशु के प्रति श्रद्धा इतनी अनुरक्त हो उठी है वह संतान स्वयं उसके आत्म-विस्तार का मूर्तिमान प्रतीक है। भावी शिशु और उसके बीच श्रद्धा के 'प्रेम बाँटने का प्रकार' उसे बहुत ही अपमानकर लगा और वह ईर्ष्या की ज्वाला में बोल उठा—

तुम फूल उगाओगी लतिका भी
कलित कर सुरभि-सौरभ-भरित
है सृष्टि लीला सरसेगा
वन वन बन वल्लरि-कुंज।

कामायनी

यह जलन नहीं सह सकता मैं
चाहिये मुझे मेरा ममत्व,
इस पंचभूत की रचना में
मैं रमण करूँ बन एक तत्व !

यह द्वैत अरे ! यह द्विविधा तो
है प्रेम बाँटने का प्रकार,
भिक्षुक मैं ! ना यह कभी नहीं
मैं लौटा लूँगा निज विचार।

इस दीन अनुग्रह का मुझ पर
तुम बोझ डालने में समर्थ,
अपने को मत समझो श्रद्धे
होगा प्रयास यह सदा व्यर्थ !

इस प्रकार के ज्वलितोद्‌गार प्रकट करके मनु श्रद्धा को त्याग कर—"पूर्ण आत्मस्वातंत्र्य" के भोग की इच्छा से चला गया। श्रद्धा से अलग होने का कारण जो मनु ने बताया वह तो एक निमित्त मात्र था। वास्तव में श्रद्धा के सहयोग के पश्चात् धीरे धीरे मनु के मन में उसके प्रति विराग का भाव बढ़ने लगा था। यह सनातन मानव प्रवृत्ति है। मानव केवल इस भाव की तुष्टि के लिये, कि एक नारी-हृदय पर उसका पूर्ण अधिकार है, और वह जब चाहे अपनी सुविधा और इच्छानुसार उस नारी को अपनी विकल वासना की तृप्ति का साधन बनाते हुये उसे बन्दी रख सकता है, मनु की भाँति अनेक अपराध अब तक कर चुका है। मनु को जब ज्ञात हुआ कि अब वह श्रद्धा के हृदय-राज्य का एकच्छत्र अधिकारी नहीं है, क्योंकि आगामी शिशु के प्रति श्रद्धा पहले ही से मोह-मुग्ध और स्नेह-सिक्त हो चली है तब उसके अहंभाव को एक भयानक आघात पहुँचा। अहंभाव की यह अतिशयता अत्यन्त

देखा क्या तुमने कभी नहीं
'स्वर्गीय सुखों पर प्रलय-नृत्य ?
फिर नाश और चिर निद्रा है,
तब इतना क्यों विश्वास सत्य !

यह चिर प्रशांत मंगल की क्यों
अभिलाषा इतनी रही जाग !
यह संचित क्यों हो रहा स्नेह,
किस पर इतनी हो सानुराग !

इसी चलदल के समान अस्थिर सुख की प्रतिपल खोजने चलने की इच्छा से मनु श्रद्धा के नव-मातृत्व की मंगलमयी अनुभूति से विकसित निखिल कल्याण-कामना की गरिमा, महत्ता भावना का मर्म नहीं समझ पाया। जब श्रद्धा ने अपने भावी अतिथि के स्वागत की उत्सुकता व्यक्त की तो मनु के हृदय में ईर्ष्या की ज्वाला धधक उठी, क्योंकि वह समझता था कि श्रद्धा सर्वस्व समर्पण के पश्चात् अपने हृदय का सारा संचित स्नेह केवल उसी को दे सकती है उसका एक कण भी किसी दूसरे को चाहे वह उसका आत्मज ही क्यों न हो देने का कोई अधिकार नहीं है मनु ने यह नहीं सोचा कि जिस आने वाले शिशु के प्रति श्रद्धा इतनी अनुरक्त हो उठी है वह संतान स्वयं उसके आत्म-विस्तार का मूर्तिमान प्रतीक है। भावी शिशु और अपने बीच श्रद्धा के 'प्रेम बाँटने का प्रकार' उसे सह्य न हो अपमानजनक लगा और वह ईर्ष्या की आगों में जल उठा—

तुम फूल उठोगी लतिका सी
कंपित कर सुख-सौरभ तरंग
मैं सुरभि खोजता भटकूँगा
वन-वन बन कस्तूरी-कुरंग।

कामायनी

यह जलन नहीं सह सकता मैं
चाहिये मुझे मेरा ममत्व,
इस पंचभूत की रचना में
मैं रमण करूँ बन एक तत्व !
यह द्वैत अरे ! यह द्विविधा तो
है प्रेम बाँटने का प्रकार,
भिक्षुक मैं ! ना यह कभी नहीं
मैं लौटा लूँगा निज विचार।
इस दीन अनुग्रह का मुझ पर
तुम बोझ डालने में समर्थ,
अपने को मत समझो श्रद्धे
होगा प्रयास यह सदा व्यर्थ !

इस प्रकार के ज्वलितोद्गार प्रकट करके मनु श्रद्धा को त्याग कर—" पूर्ण आत्मस्वातंत्र्य " के भोग की इच्छा से चला गया। श्रद्धा से अलग होने का कारण जो मनु ने बताया वह तो एक निमित्त मात्र था। वास्तव में श्रद्धा के सहयोग के पश्चात् धीरे धीरे मनु के मन में उसके प्रति विराग का भाव बढ़ने लगा था। यह सनातन मानव प्रवृत्ति है। मानव केवल इस भाव की तुष्टि के लिये, कि एक नारी-हृदय पर उसका पूर्ण अधिकार है, और वह जब चाहे अपनी सुविधा और इच्छानुसार उस नारी को अपनी विकल वासना की तृप्ति का साधन बनाते हुये उसे बन्दी रख सकता है, मनु की माँति अनेक अपराध अब तक कर चुका है। मनु को जब ज्ञात हुआ कि अब वह श्रद्धा के हृदय-राज्य का एकच्छत्र अधिकारी नहीं है, क्योंकि आगामी शिशु के प्रति श्रद्धा पहले ही से मोह-मुग्ध और स्नेह-सिक्त हो चली है तब उसके अहंभाव को एक भयानक आघात पहुँचा। अहंभाव की यह अतिशयता अत्यन्त

अप्राकृतिक थी, जिसकी प्रतिक्रिया होनी अनिवार्य थी। मनु के मन में अंतर्द्वन्द्व का भयंकर झंझा बहने लगा। वह समझ ही नहीं पाता था कि बंधनहीन तथा उच्छृंखल मन की अनन्त अभिलाषाओं की पूर्ति कैसे करे? एक ओर उसे आत्म-पोषण की महान अभिलाषा प्रतिपल पीड़ित कर रही थी तो दूसरी ओर इस भीषण एकान्त स्वार्थ के पोषण के स्वाभाविक परिणाम स्वरूप भय और पाप की रेखायें धूम्रोद्गार की तरह फैलकर उसके चारों ओर के वातावरण को अत्यन्त मलिन और विषादमय बना रही थी। श्रद्धा के मानव-निवास को छोड़कर वह भटकता भटकता सारस्वत प्रदेश के उजड़े तथा सूने प्रान्त में पहुँच कर सोचने लगा—

देखे मैंने वे शैल-शृंग।
जो अचल हिमानी से रंजित उन्मुक्त उपेक्षा भरे तुंग।
अपने जड़ गौरव के प्रतीक वसुधा का कर अभिमान भंग।

× × ×

स्थिर मुक्ति, प्रतिष्ठा मैं वैसी चाहता नहीं इस जीवन की
मैं तो अबाध गति मरुत सदृश, हूँ चाह रहा अपने मन की
जो चूम चला जाता अग जग प्रतिपग में कंपन की तरंग
वह ज्वलनशील गतिमय पतंग।

अपनी ज्वाला से कर प्रकाश।
जब छोड़ चला आया सुन्दर प्रारंभिक जीवन का निवास
वन, गुहा, कुंज, मरु अंचल में हूँ खोज रहा अपना विकास
पागल मैं, किस पर सदय रहा? क्या मैंने ममता ली न तोड़?
किस पर उदारता से रीझा? किससे न लगा दी कड़ी होड़?

ये सभी उद्गार मनु के अंतर के उस शाश्वत द्वन्द्व का उद्घाटन करते हैं जो आगामी वैज्ञानिकता—(बुद्धि के द्वारा होड़ लगाने की

कामायनी

प्रवृत्ति) की दुर्दमनीय तीव्रता से सब समय प्रताड़ित रहता है और जो "ज्वलनशील गतिमय पतंग" की तरह सदैव आत्म-विनाशी मोहकता के फेर में कस्तूरी मृग की भाँति भटकता फिरता है। सम्भवतः इसी कारण सांख्यकार ने पुरुष को असंग कहा है इसके विपरीत हम प्रकृति (सनातन नारी) को ससंग कह सकते हैं। इसे हम यों भी कह सकते हैं कि पुरुष की प्रवृत्ति केन्द्रापिग तथा नारी की केन्द्रानुग (परिधि से केन्द्र की ओर उन्मुख होने वाली) होती है। पुरुष को प्रवृत्ति को असंग मान लेने से हम यह अनुमान कर सकते हैं कि वह सृष्टि में जितना आनन्द ले सकता है उतना ही संसार में भी। पर बीच की अवस्था (जो जीवन का वास्तविक स्वरूप है) अर्थात् स्थिति की अवस्था में वह कभी सुखी नहीं हो पाता और उसे एक भयंकर बंधन और कारावास की सी अवस्था समझ कर उससे छटपटाने के लिये प्रतिक्षण व्याकुल रहता है। पर नारी प्रकृति मूलतः स्थिति को ही अपनाना चाहती है। सृष्टि की महत्ता वह भली भाँति समझती है, क्योंकि वही स्थिति का मूल कारण है। इसी कारण वह इस भाव को अपनाती अवश्य है किन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि इसके साथ उसे मातृत्व-प्राप्ति की वेदना भी सहन करनी पड़ती है। वास्तव में स्थिति की अवस्था में ही वह परिपूर्ण रूप से अपने को निमग्न कर पाती है, संसार में कदापि नहीं। नारी का चण्डी रूप उसके विकृति की चर्चा है। जो भी हो, यह निश्चय है कि सनातन पुरुष स्थिति की अवस्था को माया का बंधन मानकर उससे मुक्ति पाने के लिये (ज्ञात में या अज्ञात में) छटपटाता रहता है। वह अपना सुन्दर प्रारंभिक निवास छोड़कर इस बात पर गर्व करता है कि वह कभी किसी पर सदय नहीं रहा, उसने अपने प्रेमीजनों से ममता (अहंवादी का ममत्व नहीं, सामाजिक प्राणी की स्नेह-भावना) तोड़ ली है और जीवन की

संघर्षमयी कठिन शक्तियों से उसने कहीं होड़ लगा दी है। वह यह नहीं सोच पाता कि वास्तविक जीवन-केन्द्र के आकर्षण को 'माया' समझकर उससे विच्छिन्न होकर वह जिस केन्द्रातीत परिधि के चारों ओर ज्वलनशील गतिमय पतंग की तरह चक्कर लगाने के लिये लालायित है, वही सब से बड़ी माया मरीचिका है। यह निश्चित है कि इस प्रकार का गतिमय पतंग जीवन निशीथ के अंधकार में भटकता रहेगा। इसलिये मनु अपने क्षणिक उद्गारों के पश्चात् शीघ्र ही चौंक उठता है—

जीवन निशीथ के अंधकार।
तू घूम रहा अभिलाषा के नव ज्वलन धूम-सा दुर्निवार
जिसमें अपूर्ण लालसा, कसक, चिनगारी सी उठती पुकार
यौवन मधुवन की कालिन्दी बह रही चूमकर सब दिगंत
मन शिशु की क्रीड़ा-नौकाएँ बस दौड़ लगाती हैं अनंत
कुहुकिनि अपलक दृग के अंजन हँसती तुझमें सुन्दर छलना
धूमिल रेखाओं से सजीव चंचल चित्रों की नव-कलना
इस चिर प्रवास श्यामल पथ में छाई पिक प्राणों की पुकार
बन नील प्रतिध्वनि नभ अपार

यहाँ पर मनु का भावजेन्द्रिय मन स्पष्ट अनुभव कर रहा है कि श्रद्धामयी माया के दुःख-सुख समन्वय मंगलमय आदर्श को त्यागकर वह जिस त्याग-सुख की लालसा में भटक रहा है वह वास्तव में अपने मन की धूमिलता के बीच में कल्पित मरीचिका के आस-पास के अतिरिक्त कुछ नहीं है। मानव के हृदय की तुलना कस्तूरी मृग की नाभि-स्थित गंध से की जा सकती है। जिस प्रकार कस्तूरे को पता नहीं रहता कि सुगंध की जो मादकता उसे आकुल कर रही है, वह उसी की नाभि से आ रही है और वह निरन्तर उस सुगंध के उद्गम-स्थान की खोज में आगे को बढ़ा चला जाता

है, पर भटकते-भटकते रात हो जाती है, और वह जिस भ्रम में प्रारम्भ में था उसी में रह जाता है। अपनी असफलता से परिश्रांत होकर वह उस अंधकार निशीथ में भय, चिंता और अतृप्ति की व्याकुलता लेकर शून्यमयी विभ्रांति से प्रातःकाल के नवआलोक की प्रतीक्षा में रात भर पड़ा रहता है। सुबह होते ही पुनः गंध-विभोर होकर एक नये उत्साह के साथ उसकी खोज में भटकने लगता है, इस प्रकार मृत्यु पर्यन्त उसका यही क्रम रहता है। अपने अहम् द्वारा प्रताड़ित मानव की भी ठीक यही दशा होती है। वह यह नहीं सोचता कि उसके अहम् का सौरभ स्वयं उसे भटका रहा है वरन् उसके पूर्ण उपभोग की लालसा से उद्देश्य-हीन जीवन की अनंत मरु-मरीचिका में भटकता फिरता है। मनु का भी यही हाल हुआ। उसी समय इड़ा अकस्मात् किसी मायावी की छाया की तरह उसके पास खड़ी हुई। उसके वर्णन में कवि ने उसके रूपक को मूर्तिमान रूप में खड़ा कर दिया है—

बिखरी अलकें ज्यों तर्कजाल।

वह विश्व-मुकुट-सा उज्ज्वलतम शशिखंड सदृश था स्पष्ट भाल
दो पद्म पलाश चषक से दृग देते अनुराग-विराग ढाल
गुंजरित मधुप से मुकुल सदृश वह आनन जिसमें भरा गान
वक्षस्थल पर एकत्र धरे संसृति के सब विज्ञान-ज्ञान
था एक हाथ में कर्म-कलश वसुधा-जीवन रस-धार लिये
दूसरा विचारों के नभ को था मधुर अभय अवलम्ब दिये
त्रिवली थी त्रिगुण तरंगमयी आलोक वसन लिपटा अराल
चरणों में थी गति भरी ताल।

कर्म और ज्ञान के गहन बीहड़ पथ के प्रदर्शन के लिये मनु को इससे अच्छा दूसरा आलोक नहीं मिल सकता था, पर वह स्खलनशील पतंग की भाँति उस आलोक पर ही मर मिटने को प्रस्तुत

हो गया। जो पथ-प्रदर्शन इड़ा ने किया उसे देखकर भी उसने ठीक से नहीं देखा। उस प्रोज्ज्वल आलोक ने उसे उचित मार्ग सुझाने की अपेक्षा अपनी चकाचौंध से और अधिक भ्रम में डाल दिया। इस स्थिति में मनु को श्रद्धा का अभाव अच्छी तरह अनुभव होता है और वह पश्चाताप भरे शब्दों में कहता है—

मुझ में ममत्वमय आत्म-मोह स्वातंत्र्यमयी उच्छृंखलता
हो प्रलय-भीत तन रक्षा में पूजन करने की व्याकुलता
वह पूर्व द्वन्द्व परिवर्तित हो मुझको बना रहा अधिक दीन
सचमुच मैं हूं श्रद्धा विहीन।

मनु की इस द्वन्द्वमयी अवस्था में इड़ा ने उसमें विश्वास की भावना भरते हुये कहा—

हाँ तुम ही हो अपने सहाय।
जो बुद्धि कहे उसको न मानकर फिर किसकी नर शरण जाय?
जितने विचार संस्कार रहे उनका न दूसरा है उपाय
यह प्रकृति परम रमणीय अखिल ऐश्वर्य भरी शोधक विहीन
तुम उसका पटल खोलने में परिकर कस कर बन कर्मलीन
सब का नियमन शासन करते बस बढ़ा चलो अपनी क्षमता
तुम ही इसके निर्णायक हो, हो कहीं विषमता या समता
तुम जड़ता को चैतन्य करो विज्ञान सहज साधन उपाय
यश अखिल लोक में रहे छाय।

इस आशामयी वाणी को ग्रहण करने के लिये मनु की आत्मा अज्ञात रूप से पहले ही से व्याकुल थी, किन्तु किसी के सहयोग की आवश्यकता थी। देवलोक के संस्कार मनु अपने साथ लाया था और उसकी अनन्त शक्ति विकास की आकांक्षा इन अनेक परिवर्तनों के पश्चात् भी ज्यों की त्यों बनी थी। इसलिये इड़ा

की यह बात कि—सबका नियमन शासन करते बस बढ़ा चलो अपनी क्षमता,—मनु के कान खड़े कर दिये। यदि अनेक असफलताओं से पूर्ण उसके जीवन की सफलता अपनी क्षमता का पूर्ण विकास करके सब पर शासन करने में ही है, तो मनु के लिये इससे बढ़ कर और क्या बात हो सकती है ? अहं-भाव की पूर्ति और शासन की स्फूर्ति ने मनु के पुलक पंख खोल दिये। किन्तु नियति उसके पीछे खड़ी हँस रही थी।

महाकवि गेटे के फास्ट की असफलता-जनित ट्रेजेडी का कारण इसी प्रकार की मनोवृत्ति थी। अपने आत्म-विकास की पूर्ण चरितार्थता की आकाँक्षा के साथ ही फास्ट के मन के एक कोने में विश्व-कल्याण की भावना भी निहित थी। पर उस भावना के पीछे उसके अहम् की यह ध्वनि छिपी हुई थी कि वह विश्वकल्याण उसकी निजी शक्ति द्वारा संघटित हो, क्योंकि विश्व-कल्याण का जो आदर्श फास्ट के सामने था यदि वह किसी दूसरे व्यक्ति अथवा व्यक्ति-समूह द्वारा ऐसे उपायों से कार्यरूप में परिणत हो जाता जिसमें उसका कोई हाथ न रहता तो फास्ट को कभी प्रसन्नता न होती। सम्भवत: कार्लाइल ने फास्ट के विषय में इसीलिये लिखा है कि वह ज्ञान को इसलिये चाहता था कि वह उसे अपने शक्ति-विकास का साधन समझता था, और परमार्थ को वह तभी चाहता था जब उसके मन में यह विश्वास जम जाय कि उससे उसके अपनेपन की अनुभूति को प्रश्रय मिलता है। मनु की विचार धारा भी कुछ ऐसी ही है। ये दोनों महाव्यक्ति (जो मानवीय प्रतिभा के प्रतीक कहे जा सकते हैं) इस गहन तथ्य का महत्व नहीं समझ सके अथवा उन्होंने जान बूझकर नहीं समझना चाहा कि विशुद्ध अहं-भाव के विकास से विश्व-कल्याण के महान आदर्श का मूलगत विरोध है। अहम् का विकास अत्यन्त स्वाभाविक और

की ओर मनु ने ध्यान नहीं दिया कि इस महाकाल व्यापी प्रगतिशीलता के अन्तराल में एक सुनिश्चत और चिर-स्थिर नियम निहित है, जिसके मूल रूप में कभी किसी अवस्था में परिवर्तन नहीं होता। वह सनातन नियम चिर प्रगतिशीलता को चिर पुरातनता में परिवर्तित करता रहता है। इसीलिये वैदिक ऋषि को नतमस्तक होकर कहना पड़ा है—

सूर्यचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत् !

खंड प्रलय होंगे, महाप्रलय भी होगा किन्तु अनन्त महाकाश में सूर्य-चन्द्र की कमी नहीं रहेगी। इस चिरंतन सत्य की उपेक्षा जब जब जिस जिस युग में (मनु के काल से लेकर आज तक) प्रगतिपंथियों ने की है, तब तब उन्होंने बहुत बड़ा धोखा खाया है। इड़ा ने प्रगति की ओर मनु को अवश्य प्रेरित किया था किन्तु उसने यह कभी नहीं कहा था कि जिन शाश्वत नियमों से विश्व बँधा है उनका उल्लंघन भी करना चाहिये। मनु ने जिस इड़ा (बुद्धि) द्वारा प्रेरणा पाई थी उसी के साथ जब अनाचार के लिये उद्यत् हो गया तो उसने मनु को सावधान करते हुये कहा—

—किंतु नियामक नियम न माने
तो फिर सब कुछ नष्ट हुआ सा निश्चय जाने !
आह प्रजापति यह न हुआ है कभी न होगा,
निर्बाधित अधिकार आज तक किसने भोगा !
यह मनुष्य आकार चेतना का है विकसित,
एक विश्व अपने आवरणों में है निर्मित !
वह अनंत चेतन नचता है उन्मद गति से,
तुम भी नाचो अपनी द्वयता में विस्मृति से !
ताल ताल पर चलो नहीं लय छूटे जिसमें,
तुम न विवादी स्वर छेड़ो अनजाने इसमें !

हो जाना भी स्वाभाविक था। मनु की यह दूसरी भूल थी, पहली से कम भयंकर। वैज्ञानिक बुद्धि को अपनाना मानवात्मा के लिये अत्यंत आवश्यक है सन्देह नहीं पर श्रद्धा की तरह वह अनिवार्य रूप से आवश्यक नहीं है। श्रद्धाहीन मानव एकदम मृतात्मा है किन्तु विज्ञान हीन पर श्रद्धावान मानव अप्रगतिशील और पूर्ण न होने पर भी सजीव है। श्रद्धा और विज्ञानमयी बुद्धि, दोनों के सुविकसित रूप का सुन्दर सामंजस्यपूर्ण समन्वय मानव जीवन का चरम कल्याणमय आदर्श है। इस आदर्श की आराधना वैयक्तिक मानव के जीवन को अहम् के ऐकान्तिक-विकास-जनित विकृति से मुक्त करके राग-विराग समन्वित सामूहिक जीवन की मंगलमय चेतना में एक रूप बनकर लय हो जाने की प्रेरणा देती है। मानव-जीवन का यही श्रेयात्मक चरम लक्ष्य है। यह पहले कहा जा चुका है कि बुद्धि भी अपने आप में हेय नहीं है। श्रद्धा ने कहा था।

—तुमसे कैसी विरक्ति
तुम जीवन की अंधानुरक्ति
× × ×
तुम आशामयि। चिर आकर्षण
तुम मादकता की अवनत घन

वास्तव में इस आशामयी, उत्तेजित चंचला शक्ति के बिना जीवन गतिहीन है, पर उसका यह दोष अवश्य है कि वह "सिर चढ़ी रही पाया न हृदय"। इसलिये यदि वह हृदय के साथ अपना समुचित सामंजस्यात्मक संबंध स्थापित कर ले तो जीवन में जो उसके कारण विषमताएँ विनाश रूप बनकर विश्व में विष फुफकराती रहती हैं, वे अमृत बरसाने लगें। कोरी वैज्ञानिक बुद्धि को अपनाने से मनु का प्रजातंत्र जिस रूप में अभिशप्त हुआ था वही दशा आधुनिक संसार के जड़वादात्मक विज्ञान के अनुयायियों

की ऐकान्तिक शक्ति-साधना के परिणाम स्वरूप देखने में आ रही है। वर्तमान युग मनु की तरह श्रद्धाहीन होकर राष्ट्रगत अहम् की उपासना में रत रहकर महायुद्ध द्वारा आत्म-विनाश में लगा है। इस युद्ध के प्रायः सभी राष्ट्रों ने श्रद्धा को ठुकरा दिया है और प्रगति के नाम पर आत्म शक्ति-विकास की आराधना में तल्लीन होकर विनाश के पथ पर अग्रसर हैं, इसे कौन नहीं जानता? इस सामूहिक संहार के पश्चात् की प्रतिक्रिया स्वरूप जब श्रद्धा के लिये सारी मानवता एक बार फिर व्याकुल हो उठेगी तभी मंगलमयी शान्ति की स्थापना विश्व में होगी, अन्यथा नहीं।

चिर प्रगतिशील वैज्ञानिक बुद्धि के साथ चिर स्थिर और चिर संयमित श्रद्धा के कल्याणकारी सहयोग की प्रतिष्ठा ही कामायनी के कवि का चरम लक्ष्य है, जिसे कामायनी में अपनी श्रद्धामयी दुलारी संतान मानव को बुद्धिरूपिणी इड़ा को सौंपते हुये इन शब्दों में स्पष्ट इंगित कर दिया है—

यह तर्कमयी तू श्रद्धामय
तू मननशील कर कर्म अभय।
इसका तू सब संताप निचय—
हर ले हो मानव भाग्य उदय!

अस्तु, हम कह सकते हैं कि कामायनी में मानवता के कल्याण की भावना का काव्योचित आदर्श स्थापित करने में प्रसाद जी ने श्रद्धामयी सफलता पाई है, जो अमर और अभिनन्दनीय है।